ज्ञान गरिमा सिंधु

मानविकी एवं समाज विज्ञान

अंक - 8

वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली आयोग
मानव संसाधन विकास मंत्रालय (माध्यमिक और उच्चतर शिक्षा विभाग),
भारत सरकार,पश्चिमी खंड-7,रामकृष्णपुरम,नई दिल्ली-110066

ज्ञान गरिमा

सिंधु

(त्रैमासिक पत्रिका)

अंक 8

अक्तूबर–दिसंबर, 2005

वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली आयोग

मानव संसाधन विकास मंत्रालय

(माध्यमिक और उच्चतर शिक्षा विभाग)

भारत सरकार

274 HRD/06–1

प्रकाशक :

वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली आयोग

मानव संसाधन विकास मंत्रालय (माध्यमिक और उच्चतर शिक्षा विभाग),

भारत सरकार, पश्चिमी खंड–7, रामकृष्णपुरम्,

नई दिल्ली–110 066

विक्रय हेतु पत्र-व्यवहार का पता :

वैज्ञानिक अधिकारी,

बिक्री एकक

वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली आयोग,

पश्चिमी खंड–7, रामकृष्णपुरम्,

नई दिल्ली – 110 066

बिक्री स्थान :

प्रकाशन नियंत्रक,

प्रकाशन विभाग,

भारत सरकार,

सिविल लाइन्स,

दिल्ली – 110 054

सदस्यता शुल्क :

	भारतीय मुद्रा	विदेशी मुद्रा	
प्रति अंक व्यक्तियों/संस्थाओं के लिए	रु. 14.00	पौंड 1.64	डॉलर 4.84
वार्षिक चंदा	रु. 50.00	पौंड 5.83	डॉलर 18.00
प्रति अंक विद्यार्थियों के लिए	रु. 8.00	पौंड 0.93	डॉलर 10.80
वार्षिक चंदा	रु. 30.00	पौंड 3.50	डॉलर 2.88

पत्रिका में व्यक्त विचार लेखकों के अपने हैं। संपादक मंडल की इनसे सहमति अनिवार्य नहीं है।

संपादन मंडल

प्रधान संपादक
प्रो. के. बिजय कुमार
अध्यक्ष, वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली आयोग

संपादक
श्री उमाकांत खुबालकर

विशेष सहयोग
श्रीमती शीला माथुर

प्रकाशन
डा. पी. एन. शुक्ल
वैज्ञानिक अधिकारी

कलाकार
श्री आलोक वाही

प्रस्तावना

आयोग की त्रैमासिक पत्रिका 'ज्ञान गरिमा सिंधु' का आठवां अंक प्रबुद्ध पाठकों विद्वतजनों के समक्ष प्रस्तुत करते हुए अपार हर्ष हो रहा है चूंकि किन्हीं अपरिहार्य कारणों से इसका प्रकाशन स्थगित करना पड़ा था । अब यह पत्रिका नए कलेवर में समयबद्धता के साथ प्रकाशित की जाएगी । इस अंक में समाजशास्त्र, राजनीति, अर्थशास्त्र, पुरातत्व, इतिहास एवं जैन-धर्म दर्शन, दर्शनशास्त्र से संबंधित महत्वपूर्ण लेखों का समावेश किया गया है । सभी आलेख शोधपरक एवं चिंतनपरक है । इसके साथ ही पहले की तरह 'मराठी तत्वज्ञान महाकोश की योजना' के अनूदित लेखों को भी शामिल किया गया है । सभी लेख एवं सामग्री पत्रिका के उद्देश्यों को ध्यान में रखकर चयनित की गई है ।

आशा है सभी पाठकों को यह अंक अवश्य पसंद आएगा । फिर भी आपके सुझावों / प्रतिक्रिया का हमेशा स्वागत रहेगा ।

के. बि कुमार
(प्रो. के.बिजय कुमार)
अध्यक्ष

नई दिल्ली
दिनांक : अक्तूबर,2005

अनुक्रम

	विषय		लेखक	पृष्ठ सं.
◆	संपादन मंडल			
◆	प्रस्तावना			
◆	संपादक की ओर से			
1.	अंडमान-निकोबार : एक समाज भाषिक परिचय	-	उषा सिंह	1
2.	भारतीय संविधान निर्माण प्रक्रिया एवं निर्माताओं की भूमिकाएं	-	डॉ. श्रीमती विनीता पाठक	4
3.	गांधीजी के आर्थिक विचारों की प्रासंगिकता	-	डॉ. राधामोहन श्रीवास्तव	15
4.	त्रिशंकु लोकसभा एवं खंडित जनादेश की की स्थिति में राष्ट्रपति की भूमिका	-	डॉ. श्रीमती आनंद माथुर	20
5.	सामाजिक विकास	-	डॉ. पूर्णिमा जैन	28
6.	उपनिषद पर्यावरणीय अवधारणा और अक्षय विकास	-	डॉ. जितेंद्र शर्मा	32
7.	ऐतिहासिक धरोहर : दिगंबर जैन अतिशय क्षेत्रा - पटनागंज	-	डॉ. एस.एम. पचौरी	36
8.	भारतरत्न बिसमिल्लाह खां – एक परिचय	-	संतोष अग्रवाल	41
9.	भारत में प्रजातंत्र का उद्भव और विकास : एक सिंहावलोकन	-	डॉ. अनिल जैन	45
10.	मध्यम आकार के उद्योग : संरचना एवं प्रक्रियाएं	-	डॉ. के.एन. दिनेश	54
11.	विकलांगों की सामाजिक सुरक्षा	-	प्रो. सुमन रायजादा	60
12.	मानव अधिकारों का क्रमिक विकास	-	डॉ. डी.एस. बिष्ट	66
13.	विकास की भ्रामकता और परमाणुविक शक्तिकरण की व्यग्रता : दक्षिण-एशिया का एक संदर्भ	-	प्रो. प्रेमानारायण पांडेय	75
14.	सांख्य दर्शन	-	डॉ. अणिमा सेनगुप्त	86
15.	सांख्य में ज्ञान मीमांसा	-	डॉ. अणिमा सेनगुप्त	89
16.	सांख्य में तर्कशास्त्र	-	डॉ. अणिमा सेनगुप्त	91
17.	सांख्य में तत्व मीमांसा	-	डॉ. अणिमा सेनगुप्त	93
18.	सांख्य में धर्म मीमांसा	-	डॉ. अणिमा सेनगुप्त	95
19.	सांख्य में नीति शास्त्र	-	डॉ. अणिमा सेनगुप्त	96
20.	ईश्वर मीमांसा	-	आर.वी. डस्मेट	97
21.	बहुदेववाद	-	आर.वी. डस्मेट	99
22.	ईश्वर का स्वरुप	-	आर.वी. डस्मेट	100
23.	परमानंद	-	आर.वी. डस्मेट	103

विविध स्तंभ

- ◆ शब्द भंडार : कंप्यूटर विज्ञान की मूलभूत शब्दावली 105
- ◆ आयोग द्वारा प्रकाशित शब्द-संग्रह एवं शब्दावलियों की सूची 110
- ◆ पत्रिका के सदस्यता शुल्क संबंधी प्रपत्र 118
- ◆ हिंदी ग्रंथ अकादमियों एवं अन्य भारतीय भाषाओं के बोर्ड 119
- ◆ आयोग के प्रकाशनों की बिक्री के लिए प्रकाशन विभाग, भारत सरकार के बिक्री केंद्रों की सूची 105

संपादक की ओर से

– पत्रिका का उद्देश्य हिंदी में लेखन की तकनीकी शैली को प्रोत्साहन देना तथा सामाजिक विज्ञान एवं मानविकी के क्षेत्र से संबंधित अद्यतन उपयोगी बौद्धिक जानकारी को हिंदी माध्यम से पठन-पाठन करने वालों के साथ-साथ सामान्यजन को सुलभ कराना है।

– हमारा लक्ष्य उच्च शिक्षा के स्तर पर हिंदी माध्यम से अध्ययन-अध्यापन करने वालों को अद्यतन पाठ्य-सामग्री के साथ-साथ संपूरक साहित्य, शोध लेख, तकनीकी निबंध तथा अन्य वैचारिक सामग्री उपलब्ध कराना भी है।

– पत्रिका में हिंदी में अनूदित लेखों का भी प्रावधान है।

– लेख की सामग्री मौलिक, प्रामाणिक तथा अप्रकाशित होनी चाहिए।

– लेख की भाषा यथासंभव सरल, बोधगम्य होने के साथ-साथ सूचनात्मक, शिक्षात्मक एवं रोचक भी हो जिससे हिंदी माध्यम से पढ़नेवाला सामान्य जन भी लाभान्वित हो सके।

– लेख सामाजिक विज्ञान तथा मानविकी विषयों, यथा: समाजशास्त्र, पुरातत्वविज्ञान, वास्तुकला, राजनीतिशास्त्र, दर्शनशास्त्र, शिक्षा, मनोविज्ञान, इतिहास, अर्थशास्त्र, वाणिज्य, बैंकिंग, पूँजी बाजार, प्रबंधन, भाषाविज्ञान, पत्रकारिता, ललित कला, पुस्तकालय विज्ञान, लोक प्रशासन आदि में से किसी विषय पर भेजे जा सकते हैं।

– लेख अधिकतम 8-10 फुलस्केप एक तरफ टंकित पृष्ठों का होना चाहिए। स्वच्छ हस्तलिखित प्रति भी स्वीकार्य होगी।

– कृपया लेख की दो प्रतियाँ भेजें।

– लेख में आयोग द्वारा प्रयुक्त शब्दावली का ही प्रयोग करें। लेखक के विवेकानुसार प्रयुक्त हिंदी शब्द का अंग्रेजी पर्याय कोष्ठक में अवश्य दिया जाए।

– पत्रिका में पूर्वकथित सामग्री के अतिरिक्त शब्द-भंडार, परिभाषा-निदर्श, शब्दावली चर्चा, पुस्तक समीक्षा आदि भी समाविष्ट की जाएँगी।

– आपकी प्रतिभा एवं परिश्रम का भौतिक स्तर पर मूल्यांकन तो संभव नहीं है फिर भी मौलिक लेखन के लिए मानदेय की दर 250 रु. प्रति हजार शब्द है, जिसकी अधिकतम सीमा 1,000 रु. है। अनुवाद के लिए यह दर 100 रु. प्रति हजार शब्द है।

– फोटो तथा चित्रों के भुगतान की अलग से व्यवस्था है। फोटोग्राफ श्वेत-श्याम तथा रेखाचित्र सफेद कागज पर काली स्याही से होने चाहिए।

– ज्ञान वह प्रकाश है जो मन के साथ-साथ समाज को भी उजागर करता है। इस पत्रिका के माध्यम से ज्ञान के प्रकाश को सर्वसुलभ एवं सर्वव्यापक बनाने में आपका बहुमूल्य सहयोग प्रार्थित है।

लेख भेजने का पता :

श्री उमाकांत खुबालकर
संपादक, 'ज्ञान गरिमा सिंधु'
वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली आयोग,
(मानव संसाधान विकास मंत्रालय)
पश्चिमी खंड-7, रामकृष्णपुरम्,
नई दिल्ली-110066

पुनश्च :

व्यक्तियों/संस्थाओं से अनुरोध

कृपया इस पत्रिका की प्रगति और लोकप्रियता के लिए ग्राहक बने और बनाएँ।

◆

1

अंडमान-निकोबार : एक समाज-भाषिक परिचय

—उषा सिंह*

अंडमान-निकोबार द्वीपसमूह 'लघु भारत' की संज्ञा से शोभित होने वाला ऐसा पहला द्वीप है जिसमें कई जनजातियों के साथ-साथ भिन्न-भिन्न प्रदेशों से आए लोगों की सामाजिक व सांस्कृतिक परिदृश्य में इंद्रधनुषी छटा का आभास होता है। एक ओर जहाँ यहाँ भाषाओं में विभिन्नता है, वहीं सांप्रदायिक सद्भाव, आत्मीयता, एकता और अखंडता में एकरूपता दिखाई पड़ती है।

इन द्वीपों में छह प्रकार की आदिम जनजातियाँ निवास करती हैं। अंडमान वर्ग में अंडमानी, ओंगी, सेंटिनली और जरवा आदिवासी आते हैं तथा निकोबार वर्ग में निकोबारी तथा शोम्पेन आते हैं। अंडमान वर्ग के आदिवासी मूलतः निग्रेटो तथा निकोबार वर्ग के मंगोलियन प्रजाति से संबंधित हैं[1], अतः इनकी सांस्कृतिक एवं सामाजिक पृष्ठभूमि परस्पर भिन्न प्रकार की हैं। यद्यपि ये आदिवासी पहले आधुनिकता से दूर थे, किंतु वर्तमान समय में ये आधुनिक समाज में कदम से कदम मिलाकर चल रहे हैं। अंडमान तथा निकोबार के आदिवासियों का मूल उत्स तथा संक्रियात्मक स्वरूप चूँकि अनेक मतमतांतरों के बीच उलझा है इसलिए इनके रहन-सहन, सभ्यता और संस्कृति के प्रति किसी के मन में जिज्ञासा भाव का होना अत्यंत स्वाभाविक है। इनकी प्रवृत्तियों और विशिष्टताओं को प्रकाश में लाने तथा संवेदनात्मक धरातल पर पूर्ण पहचान करने-कराने के अनेक प्रयास किए जा रहे हैं।

अंडमान-निकोबार द्वीप समूह में कुल छोटे-बड़े 556 द्वीप हैं जिनका कुल क्षेत्रफल 8,293 वर्ग में फैला है। टी. एन. पंडित द्वारा लिखित एक लेख "अंडमान द्वीप समूह की आदिम जनजातियाँ"[2], में जनजाति न्यूगिनी से दक्षिणी भारत तक के क्षेत्र में हब्शियों जैसी जातियों में से है, और यह द्वीप उसी का एक हिस्सा है। किसी समय यहाँ के लोग दक्षिण पूर्व एशिया, पूर्वी एशिया से आकर बसे थे। संभवतः ये लोग यहाँ कई हजार वर्षों पहले आए थे। इसके बाद काफी लंबे समय तक यहाँ कोई नहीं आया।

ये लोग एक-दूसरे के साथ शांति और आराम से जिंदगी गुज़ारते रहे। दुनिया के अन्य भागों से उनका कोई लेना-देना नहीं था, लेकिन बाद में यहाँ बाहरी लोग आने शुरू हुए। कहा जाता है कि मूल एशियाई यहाँ पक्षियों की तलाश में आया करते थे। बताया जाता है कि अतीत में यहाँ के लोगों को पकड़ कर दास बनाने के लिए भी ले जाया जाता था।

1789 में (ईस्ट इंडिया कंपनी) ब्रिटिश सरकार ने दक्षिण अंडमान में कुछ लोगों को बसाया। ये लोग 5-6 वर्षों तक यहाँ रहे लेकिन बाद में यहाँ से वापस चले गए। 22 जनवरी 1858 को इन द्वीपों में ब्रिटिश साम्राज्य का राष्ट्रीय झंडा (यूनियन जैक) फहराया फिर शुरु हुआ लोगों को यहाँ बसाने का सिलसिला, और यहीं से शुरुआत हुईः यहाँ की जनजातियों और बसाए जाने वाले लोगों के बीच तनाव[3]। जब ईस्ट इंडिया कंपनी ने यहाँ उपनिवेश बनाने का विचार किया तब यहाँ पर निर्माण कार्य जंगलों को काट कर शुरु किया गया और फिर वर्षों से रहते आ रहे आदिम जनजातियों में विद्रोह की भावना पनपने लगी। उन्हें सभ्य लोगों से सबसे प्रमुख अंतर यह लगा कि मानव आकृति समान होते हुए भी ये उनसे निम्न बातों में पूरी तरह से भिन्न थे; कपड़े पहनना, घर बनाकर रहना तथा पूरा परिवार एक साथ रहना आदि। यह सब देख यहाँ की जनजातियों ने अपने आप में दुर्बलता का आभास किया और भविष्य में अपनी प्रजाति के नष्ट होने के भय से इनको यहाँ से खदेड़ना ही उचित समझा। ये जनजातियाँ आग से डरती

* भाषा विज्ञान विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय, उत्तर प्रदेश

थीं क्योंकि दो पत्थरों के बीच निकलती चिंगारी इन्हें किसी प्रेत आत्मा का आभास दिलाती थीं। इनमें इन सब बातों के लिए अंधविश्वास व्याप्त था। इस कारण ये अपना भोजन आग में भूनने की जगह कच्चा ही खाना पसंद करती थीं। यहाँ पर बसाए गए लोग आग से ही अपनी सुरक्षा करते थे। इन आदिवासियों का कोई इतिहास, अर्थात् इनकी उत्पत्ति, समाजीकरण, घुमक्कड़-प्रवृत्ति से गाँव में बसने तक का कोई लिखित रूप प्राप्त नहीं है। लेकिन समय के साथ-साथ इन आदिम जातियों के साथ सभ्य समाज ने संपर्क स्थापित करना शुरू किया। अनेक प्रयासों के बाद भी सभ्य लोग वही डटे रहे। आदिम जनजातियों का सबसे बड़ा विद्रोह था 'अबराडिन का युद्ध' जो 14 मई 1859 को अबराडीन और अटलांटा प्वाइंट पर आक्रमण कर कई लोगों को मार डाला तथा मकानों को क्षतिग्रस्त कर दिया तथा कुछ लोगों को अपने साथ जंगलों में लेकर चले गए जिनका बाद में पता नहीं चला[4]। कहा जाता है कि ये इन लोगों से ही हिंदी के कुछ शब्दों को सीख कर सभ्य समाज की ओर अग्रसर हुए। ऐसी ही कई घटनाएँ अतीत में भी घटित हुई होंगी, जो दोनों वर्गों के बीच वर्ग-संघर्ष को दर्शाती हैं। ये आदिम जातियाँ अपने अस्तित्व को बचाए रखने तथा इन द्वीपों में धर्म के बारे में काफी मतभेद हैं। ये जातियाँ मूलरूप से हिंदू थीं। किंतु ईसाई मिशनरियों ने निकोबार द्वीप को अपने धर्म प्रचार के लिए चुना तथा यहाँ पर रहने वालों को ईसाई धर्म में परिवर्तित कर दिया। इस प्रकार मिशनरी सभी द्वीपों में घूम-घूमकर ईसाई धर्म का प्रचार करते रहे। यह कार्य ब्रिटिश शासन में हुआ था। जापानियों के आधिपत्य में आ जाने के बाद इन द्वीपों में उन सभी चीजों को जापानियों ने खत्म करने का प्रयास किया जो अंग्रेज़ी हुकूमत में हुआ था। इसी कारण ये जनजातियाँ धर्म ये ज्यादा न जुड़कर अंधविश्वासों को ज्यादा अहमियत देने लगीं। एक रोचक तथ्य यह भी सामने आया कि 'नानकौरी' तथा 'कछालद्वीप' में प्राचीन समय से ही मंदिर का निर्माण हुआ था। इनका निर्माण यहाँ की रानी लक्ष्मी तथा रानीचंगा ने करवाया था। हालाँकि कुछ समय बाद इनके वंशज भी ईसाइयत को मानने लगे थे लेकिन ये रानियाँ अपनी पुरानी परंपरा से ही बँधी रहीं। उन पर धर्म परिवर्तन का कोई असर नहीं हुआ। इन जनजातियों में विवाह अपने सगे-संबंधियों में नहीं होते तथा ये लोग अपने ही धर्म के दूसरे लोगों से करते थे। इन जनजातियों में रीति-रिवाज़ों का तथा अन्य संस्कारों का नियमपूर्वक पालन किया जाता है। यहाँ की आदिम जनजातियाँ खेती भी करती हैं। यहाँ नारियल, सुपारी, केवड़ा, केला, अमरूद, अनार, कटहल व टेपीओका की खेती होती है तथा पशुपालन में सुअर व मुर्गी आते हैं। इन द्वीपों में इन्हें रखते हुए कई वर्ष बीत गए तथा कई परंपराओं का प्रभाव भी इन पर पड़ा। लेकिन ये लोग अपने रीति-रिवाज़ों को निर्विरोध रूप से मानते चले आ रहे हैं। इनकी परंपराओं को देखें तो एक अनोखी परंपरा ओंगी जनजाति में यह है कि जब दो युवा जोड़े एक-दूसरे को पसंद करते हैं तथा विवाह बंधन में बँधना चाहते हैं तो उसके लिए स्त्री अपने पुरुष साथी के शरीर व चेहरे पर सफेद मिट्टी से चित्रकारी कर देती है। यह विवाह का पूर्ण होना माना जाता है। फिर दोनों एक-साथ रहने के लिए समाज में मान्य होते हैं।[5]

एक और अनोखी परंपरा अंडमानी जनजाति में देखने को मिल जाती है। जब कभी समुद्र से कछुआ पकड़ कर लाते हैं तो पूरा का पूरा गाँव उस रात कछुआ लाने वाले व्यक्ति के घर पर बिन बुलाया मेहमान होता है और उस व्यक्ति को सहर्ष पूरे गाँव को भोजन (कछुआ) कराना होता है। उस रात पूरे गाँव के लोगों में उत्सव का माहौल होता है। स्त्रियाँ तथा लड़कियाँ मिलकर नृत्य भी करती हैं।[6] ठीक इसी प्रकार 'शोपेन' जनजाति में यह परंपरा देखने को मिलती है कि लोग अपने घरों में आग जलाकर रखते हैं और उसे कभी बुझने नहीं देते तथा साथ ही एक विशेष वृक्ष की पूजा करते हैं जो हर शोपेन बस्ती में पाया जाता है। ये लोग झाड़-फूँक में विश्वास करते हैं। जब कोई बाहरी व्यक्ति उनकी बस्ती में आता है और वापस चला जाता है तो एक विशेष पत्ती को जलाकर बस्ती को प्रेत-बाधाओं से मुक्ति प्रदान करते हैं और फिर उस पत्ती को हर घर में घुमा-घुमा कर गाँव से बाहर फेंक देते हैं। इनकी विवाह प्रथा बड़ी ही विचित्र होती है। अनमेल तथा सगोत्री विवाह के लिए कोई बंधन स्वीकार नहीं करते और पति-पत्नी हो जाने के बाद परस्पर संबंध ही बंधन हो जाता है।[7]

जरवा जनजातियों में एक रोचक तथ्य यह देखने में आया है कि जब उनका कोई व्यक्ति संकट में होता है तो वह नारियल के पंखे से पेड़ के तने पर ज़ोर-ज़ोर से आवाज़ करता है, जिसे पंखा पीटना कहते हैं। यह आवाज़ इस बात का संकेत देती है कि कहीं जारवाओं का दल किसी विपत्ति का सामना करने के लिए इकट्ठा हो रहा है।[8]

अंडमान-निकोबार में रह रही आदिम जनजातियों को अपने अस्तित्व को बचाए रखने के लिए कई विपरीत

परिस्थितियों से जूझना पड़ा। यहाँ भोजन की अपर्याप्तता रही। मलेरिया जैसे भयानक बुखार से हर रोज एक व्यक्ति की मृत्यु हो जाती थी। इसका प्रमुख कारण भौगोलिक परिस्थिति व खराब जलवायु थी। वर्षा की अधिकता होने तथा घने जंगलों में दलदल होने के कारण मनुष्य भोजन की कमी को पूरा करने के लिए दूसरे जीवों को मार कर खाता था। इन जनजातियों की विकास-यात्रा को देख अनायास ही यह कहावत चरितार्थ होती है: 'चिराग तले अँधेरा' अर्थात् जहाँ विज्ञान का विकास चरम सीमा पर है वहीं आदिम जनजातियों के ये लोग अपने ही जीवन-संघर्ष में लगे हुए हैं। इनके लिए मौलिक अधिकारों का कोई अर्थ नहीं है। यह सुबह आँख खोलने से लेकर सोने तक भोजन ही जुटाते रहते हैं। इन जनजातियों की शारीरिक बनावट भिन्न-भिन्न है। ओंगों तथा जारवा, इकहरे शरीर, काला रंग, घुँघराले बाल तथा नाटे कद के होते हैं जब कि शोपेन, निकोबारी तथा अंडमानी सामान्य कद के, गोरा रंग तथा चपटी नाक व भूरे बाल के होते हैं। ये दोनों जनजातियाँ क्रियाशील हैं। इनकी भाषा असम प्रदेशों में रहने वाली जनजातियों से कमोबेश मिलती-जुलती दिखाई देती हैं।

इन छह जनजातियों में निकोबारी भाषा ही प्रमुख है। बाकी अन्य जन-जातियों की बोलियाँ भी इन्हीं से निकली हैं। जारवा बोली इन सबसे भिन्न है, क्योंकि इनका समाज काफी समय तक घने जंगलों में ही रहा करता था। किंतु अब ये भी सभ्य लोगों से मिलने लगे हैं। ये सारी जनजातियाँ हिंदी को प्रमुखता देती हैं। ये लोग अपनी बोली से ज्यादा अच्छी तरह हिंदी बोलते हैं। अंडमान में जनसामान्य में बोली जाने वाली भाषा लोकल हिंदी है जो कि पारस्परिक विचारों के आदान-प्रदान के लिए सर्वाधिक सफल माध्यम है। अंडमान-निकोबार द्वीप में रह रही जनजातियाँ अपनी मातृभाषा का प्रयोग केवल अपने समाज में ही करती हैं। बाह्य समाज में वे केवल हिंदी का ही प्रयोग करते हैं। इसी कारण इनकी मातृभाषा की उन्नति जन सामान्य में नहीं हो पाई, जबकि निकोबारी बोली अन्य की अपेक्षाकृत सरल है तथा इसे सामान्य लोग सीख भी रहे हैं। इस भाषा का प्रयोग इस कारण अधिक हो रहा है क्योंकि इसके बोलने वालों की संख्या अधिक है। कहने को, अन्य जनजातियों का स्रोत निकोबारी भाषा को माना जाता है। किंतु अलग-अलग द्वीपों में रहने के कारण वहाँ की जलवायु, प्रकृति तथा समाजीकरण के कारण निकोबारी भाषा से निकली अन्य बोलियाँ अपना अलग रूप लेती चली गईं। काफी समय तक इन लोगों के बाह्य समाज से अलग रहने की परंपरा के कारण इनकी बोलियों का विकास नहीं हो पाया। इस कारण सभ्य समाज में इन्हें हिंदी का ही प्रयोग करना पड़ता है। लोकल हिंदी का जन्म यहाँ के अनेक समूह के भाषाभाषियों के बीच संप्रेषण की आवश्यकता एवं पारस्परिक समझ के परिणामस्वरूप हुआ है।

यहाँ विशिष्ट रूप से पली-बढ़ी यहाँ की संपर्क भाषा हिंदी की प्रकृति सामासिकता की है। परिवेश के आधार पर शब्दों के अर्थों में यत्किंचित परिवर्तन इस बोली में भी देखने को मिलता है। कहीं-कहीं शब्द अपने विशिष्ट अर्थ को ही व्यंजित करते हैं। शब्दों की प्रकृति के अनुसार उनकी अपनी वाक्य रचना है। इसका उपयोग बोलचाल और पत्र लेखन आदि तक ही सीमित है। भाषा-विज्ञान की दृष्टि से यहाँ के कई शब्दों ने अपना अर्थ विस्तार किया है और कुछ ने अपना अर्थ संकोच। अंडमान में प्रयुक्त होने वाली विभिन्न भाषाविदों के बीच स्थानीय हिंदी की एक अलग पहचान है। इस भाषा का एक समाज बनता जा रहा है। एक सीमा तक बन भी गया है जो यहाँ के प्रत्येक भाषा-भाषी को हिंदी बोलना सिखाता है। यद्यपि विभिन्न क्षेत्रों, विभिन्न संदर्भों एवं विभिन्न भाषाभाषियों द्वारा प्रयुक्त होने के कारण उसका कलेवर भिन्नतापरक हो सकता है।

संदर्भ सूची

1. डॉ. व्यास मणि त्रिपाठी; 'अंडमान तथा निकोबार के आदिवासी और उनकी बोली' (1990) पृष्ठ सं. 18
2. टी.एन. पंडित; लेख-युवरश्मि, 1983 पृष्ठ सं. 17
3. राजेंद्र पाल सिंह; 'अंडमान और निकोबार द्वीपसमूह', 1970, पृष्ठ सं. 9
4. डॉ. व्यास मणि त्रिपाठी; 'अंडमान तथा निकोबार के आदिवासी और उनकी बोली', (1990) पृष्ठ सं. 9
5. बादल कुमार बसु; 'द ओंगी', 1990 पृष्ठ सं. 23
6. दिलीप कुमार चक्रवर्ती; 'ग्रेट अंडमानीज़' 1990, पृष्ठ सं. 22
7. पुरुषोत्तम लाल वशिष्ठ; पत्रिका - धर्मयुग, 1978, पृष्ठ सं. 31
8. पुरुषोत्तम लाल वशिष्ठ; पत्रिका - धर्मयुग, 1979, पृष्ठ सं. 31

◆

2

भारतीय संविधान निर्माण प्रक्रिया एवं निर्माताओं की भूमिकाएँ

—डॉ. (श्रीमती) विनीता पाठक'

भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस द्वारा पूर्ण स्वराज्य प्राप्ति का लक्ष्य निर्धारण एवं उसकी सार्वजनिक घोषणा के पश्चात् संविधान एवं संविधान सभा का विचार संबंधी प्रश्न उठना स्वाभाविक था। ऐसा इसलिए कि किसी भी आंदोलन के अंतर्गत लक्ष्य सिद्धि के बाद की योजना एवं रूपरेखा पर भी विचार होता रहता है। यही कारण था कि भारतीय स्वतंत्रता संग्राम को नेतृत्व प्रदान करने वाली भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस पार्टी में भी स्वतंत्र भारत की राजनीतिक व्यवस्था के संबंध में आजादी के पूर्व से ही विचार होने लगा। 1934 में गांधीजी ने डॉ. के.एम. मुंशी को संविधान सभा की आवश्यकता और महत्ता पर एक लेख प्रस्तुत करने को कहा। तद्नुसार डॉ. मुंशी ने "हमारा उद्देश्य एक संविधान सभा" शीर्षक पर एक लेख लिखा। इस लेख में उन्होंने संविधान सभा-गठन के विभिन्न तरीकों का उल्लेख किया और इस बात पर जोर दिया कि संविधान सभा में राष्ट्रीय इच्छा सही रूप में प्रतिबिंबित होनी चाहिए। उन्होंने इस बात पर भी जोर दिया कि वयस्क मताधिकार तथा अनुपातीय प्रतिनिधि प्रणाली के द्वारा गठित संविधान सभा से ही ऐसा संभव है। इसी का अनुगमन यूरोप के मुल्कों में हुआ है और भारत की वर्तमान परिस्थिति को देखते हुए उसके लिए भी यही उपयुक्त है। संविधान सभा के महत्व को स्पष्ट करते हुए उन्होंने लिखा है :

इस प्रकार आधुनिक राजनीतिक जीवन में संविधान सभा ने महत्वपूर्ण भूमिका निभायी है। कांग्रेस इसी प्रकार की संविधान सभा के पक्ष में है क्योंकि मात्र ऐसी ही भारतीय संविधान सभा भारत की स्वतंत्रता तथा यहाँ की जनता की शक्ति का प्रतीक हो सकती है। इसी के माध्यम से भारत मताधिकार संपन्न राष्ट्र का गौरव, आत्मनिर्णय का संकल्प और मौलिक नियमों के द्वारा अपनी आत्मा की अभिव्यक्ति की प्राप्ति की आशा को चरितार्थ कर सकता है।[1]

गांधी जी ने डॉ. मुंशी का लेख ध्यान से पढ़ा। इसमें उन्होंने कुछ संशोधन किया। तत्पश्चात् 21 जुलाई, 1934 को यह हिंदुस्तान टाइम्स में प्रकाशित हुआ और इसके बाद अन्य समाचार पत्रों में भी।

कांग्रेस कार्यकारिणी समिति का दृढ़ मत था कि भारत के संविधान का निर्माण एक ऐसी संविधान सभा द्वारा ही हो, जो भारतीयों द्वारा निर्वाचित हो तथा जिसमें महत्वपूर्ण अल्पसंख्यकों के प्रतिनिधि भी हों। अतः 1934 में नेहरू ने सार्वजनिक रूप से यह दावा किया कि भारत की जनता ही उसके राजनीतिक भविष्य का निर्णायक है। अतः उसे अपना संविधान बनाने की पूर्ण स्वतंत्रता है।[2] इस प्रकार संविधान निर्माण के लिए संविधान सभा के गठन की माँग भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की नीति बन गई। 1938 में नेहरू ने उस नीति को स्पष्ट करते हुए पुनः कहा :

भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस स्वतंत्रता और लोकतांत्रिक राज्य के लिए कृतसंकल्प है। इसने प्रस्तावित किया है कि स्वतंत्र भारत का संविधान बिना किसी बाह्य हस्तक्षेप के वयस्क मताधिकार के आधार पर निर्वाचित संविधान सभा द्वारा निर्मित हो।[3] उसके बाद कांग्रेस ने फैजपुर, हरिपुरा के अपने वार्षिक सम्मेलन तथा 1945 के शिमला सम्मेलन में इस बात को दुहराया कि भारत बिना विदेशी सत्ता के हस्तक्षेप

* प्रवक्ता, राजनीतिशास्त्र विभाग, दीनदयाल उपाध्याय गोरखपुर विश्वविद्यालय, गोरखपुर।

के भारतीयों द्वारा निर्मित संविधान को ही स्वीकार करेगा।[4]

क्रिप्स मिशन (1942) ने भी संस्तुति की थी कि भारतीय संविधान का निर्माण भारतीयों द्वारा निर्वाचित सभा द्वारा ही हो।[5]

अंत में केबिनेट मिशन ने 19 मई, 1946 के अपने प्रस्तावों में सुझाव दिया कि भविष्य में भारत के शासन के लिए संविधान के निर्माण के हेतु संविधान सभा का गठन हो।[6]

संविधान निर्माण का प्रारंभिक अभ्यास

कैबिनेट मिशन की संस्तुति के अनुसार जब तक संविधान सभा की प्रक्रिया पूरी होती, उससे पूर्व ही जुलाई 1946 में कांग्रेस कार्यकारिणी समिति ने नेहरू की अध्यक्षता में विशेषज्ञों की एक समिति का गठन किया, जिसे संविधान सभा के लिए संविधान संबंधी सामग्री एवं प्रारूप प्रस्ताव तैयार करने का उत्तरदायित्व दिया गया।

नेहरू के अतिरिक्त इसमें निम्नलिखित सदस्य थे :

1. आर्शफ अली
2. एन. गोपालस्वामी आयंगर
3. के.टी. सार
4. के. संथानम
5. हुमाऊं कबीर
6. डी.आर. गाडगिल

गांधीजी की संस्तुति पर नेहरू ने डॉ. के.एम. मुंशी को संविधान का प्रारंभिक प्रारूप तैयार करने की दृष्टि से इस समिति का सदस्य बनाया। डॉ. मुंशी गाँधी जी के आदेशानुसार उत्साहपूर्वक इस कार्य में लग गए। उसी समय संयोग से वी. के. कृष्णमेनन इंग्लैंड से भारत आए हुए थे और वे जब तक यहाँ रहे डॉ. मुंशी ने इस कार्य में उनकी भरपूर सहायता ली। डॉ. मुंशी ने बड़ी दक्षता से यह कार्य किया। उनके प्रारूप में 50 अनुच्छेद एवं प्रस्तावना थी जिस पर खूब चर्चा हुई। इस प्रकार इस समिति के प्रयत्न एवं सुझावों से नेहरू को अपने उद्देश्य प्रस्ताव को तैयार करने में काफी सफलता मिली। नेहरू का यही प्रस्ताव बाद में संविधान का मौलिक सिद्धांत बना।

कैबिनेट मिशन प्रस्ताव के प्रावधान

16 मई, 1946 को कैबिनेट मिशन के जिन प्रस्तावों की घोषणा की, उनमें संविधान सभा के गठन संबंधी निम्न प्रावधान थे :

1. प्रत्येक प्रांत तथा प्रत्येक भारतीय राज्य या राज्यों के समूह को मोटे तौर पर 10 लाख की जनसंख्या पर एक के अनुपात में संविधान सभा के लिए सदस्य चुनने भेजने का अधिकारी बनाया गया। इसके फलस्वरूप प्रांतों को 292 सदस्य तथा रियासती राज्यों को अधिकतम 93 सदस्य भेजने का अधिकार दिया गया।
2. प्रांतों में सीटों का बँटवारा तीन मुख्य संप्रदायों – मुस्लिम, सिख और सामान्य में उनकी जनसंख्या के अनुपात में किया गया।
3. प्रांतीय विधान सभाओं में प्रत्येक समुदाय के सदस्यों को अपने प्रतिनिधियों को एकल संक्रमणीय मतानुसार समानुपाती प्रतिनिधित्व प्रणाली द्वारा चुनने का अधिकार दिया गया।
4. रियासती राज्यों के प्रतिनिधियों की चयन प्रक्रिया का निर्धारण मंत्रणा द्वारा करने का निर्णय हुआ।

संविधान सभा का गठन

कैबिनेट मिशन ने व्यापक वयस्क मताधिकार के सिद्धांत को अस्वीकार कर दिया था क्योंकि उससे संविधान निर्माण में काफी विलंब होता। प्रांतीय विधान सभाओं द्वारा सदस्यों के निर्वाचन की व्यवस्था की गई। ध्यातव्य है कि इन विधान सभाओं के सदस्यों का निर्वाचन भारत सरकार अधिनियम 1935 के अनुसार हुआ था जिसमें 15 प्रतिशत से अधिक भारतीयों को मताधिकार प्राप्त नहीं था। इस प्रकार जिस संविधान सभा का गठन हुआ वह भारत के धनीवर्ग का प्रतिनिधित्व करता था, न कि सामान्य जन का।

इस प्रकार संविधान सभा में 11 ब्रिटिश भारतीय प्रांतों की विधान सभाओं द्वारा निर्वाचित 292 सदस्य, रियासती राज्यों द्वारा नामित 93 सदस्य तथा मुख्य आयुक्त के दिल्ली, कुर्ग, अजमेर-मारवाड़ तथा अंडमान एवं निकोबार द्वीप समूहों के 4 सदस्य थे।

संविधान सभा की स्थिति के संबंध में सबसे महत्वपूर्ण बात यह थी कि यह ब्रिटिश सरकार द्वारा आहूत की गई थी न कि राष्ट्रीय अस्थाई सरकार द्वारा। ब्रिटिश सरकार की दृष्टि में यह देश के प्रमुख राजनीतिक दलों के प्रतिनिधियों

का सम्मेलन मात्र था। कैबिनेट मिशन की शर्तों के अनुसार संविधान निर्माण की अवधि में भारत का प्रशासन चलाने के लिए तत्काल आंतरिक सरकार की स्थापना की गई जिनकी संरचना और क्रियान्वयन संबंधी काफी अड़चनें उत्पन्न हुईं।

डॉ. के.एम. मुंशी द्वारा प्रस्तुत प्रारूप

जब तक संविधान सभा के गठन की प्रक्रिया चल रही थी, तब तक उधर डॉ. मुंशी अपना प्रारूप बनाने में लगे थे। डॉ. मुंशी द्वारा तैयार किए गए प्रारंभिक प्रारूप में प्रस्तावना के अतिरिक्त 50 अनुच्छेद थे। इस प्रारूप के अनुच्छेद 1 में संघीय भारत को लोकतांत्रिक सार्वभौमिक गणतंत्र कहा गया था तथा अनुच्छेद 2 में भारत के लोगों की सार्वभौमिकता के उद्घोष के साथ-साथ नागरिकों के अधिकारों एवं स्वतंत्रताओं की घोषणा थी। ब्रिटिश शासन द्वारा भारतीयों को विभक्त करने की नीति से उत्पन्न समस्या के निदान के लिए मुंशी तथा मेनन ने सरकार में एक विशिष्ट अंग का प्रावधान किया था जिसे प्रेसिडेंट-इन-काउंसिल कहा गया था। इसमें एक अध्यक्ष, कुछ मंत्री तथा 10 उपाध्यक्षों का प्रावधान रखा गया था। इन उपाध्यक्षों में से 2 वंशानुगत शासकों में से, 2 हिंदू, 2 मुसलमान, 1 सिख, 1 ईसाई, 1 एंग्लो-इंडियन तथा 1 पारसी को रखने की व्यवस्था की गई थी।

नेहरू ने मुंशी को गोपालस्वामी आयंगर के साथ प्रारूप पर विचार-विमर्श करने को कहा। वे वैसा ही करते रहते किंतु संविधान का वास्तविक स्वरूप क्या हो, यह समस्या बनी रही। इस पर नेहरू ने उन्हें परामर्श दिया कि वे इसकी चिंता किए बिना संविधान सभा के समक्ष प्रस्तुत होने वाले उद्देश्यों के प्रस्ताव जिसे स्वयं नेहरू ने तैयार किया था, उसे अंतिम रूप देने में सहायता प्रदान करें तथा सभा की कार्यवाई के नियमों का प्रारूप तैयार करें।

4 अगस्त, 1946 तक यह कार्य संपन्न हो गया। मुस्लिम लीग की नीति को ध्यान में रखते हुए यह कार्य अत्यंत कठिन था। वह संविधान सभा में सम्मिलित होकर उसकी कार्यवाही में व्यवधान उत्पन्न अथवा बाहर रहकर भी उसे विफल करने का प्रयास कर सकता था। अतः ऐसे नियम बनायें जिससे संविधान सभा सार्वजनिक रूप से कार्यरत रहे चाहे ब्रिटिश सरकार की लीग के प्रति जो नीति हों।

संविधान सभा की चुनौतियाँ

प्रारंभ में ही संविधान सभा के समक्ष कई चुनौतियाँ उपस्थित हुईं। पहली चुनौती चर्चिल के वक्तव्य से पैदा हुई। संसदीय बहस में भारतीय संविधान सभा की वैधता पर प्रश्न-चिह्न लगाते हुए उन्होंने कहा कि क्या ब्रिटिश सरकार, जिसने इस सभा को जन्म दिया है, इसे समाप्त कर सकती है?

दूसरी चुनौती मुस्लिम लीग से आई। मुस्लिम लीग का संविधान सभा में सम्मिलित होने की अनिश्चितता दीर्घकाल तक बनी रही।

तीसरी चुनौती संविधान सभा की स्थिति को लेकर थी। यद्यपि कांग्रेस सदस्यों का मानना था कि संविधान सभा सार्वभौम निकाय है, किंतु वस्तुतः वह ऐसा नहीं था। ब्रिटिश सरकार द्वारा निर्मित होने के कारण इसे समाप्त करने का अधिकार उस सरकार को वैधिक रूप से था। तथापि व्यवहार में उसके लिए ऐसा करना संभव नहीं था। परंतु कांग्रेस तथा मुस्लिम लीग के संघर्ष से इसके विघटन की संभावना बनी रही। इसका कारण यह था कि कांग्रेस तथा मुस्लिम लीग दोनों ने पारस्परिक समझौते के आधार पर केबिनेट मिशन योजना को स्वीकार किया था। किंतु इसके बाद कांग्रेस अध्यक्ष नेहरू ने घोषणा की कि कांग्रेस पार्टी संविधान सभा में समझौते से पूर्ण अप्रतिबंधित रूप में सम्मिलित होगी और स्वतंत्र रूप से परिस्थितियों का सामना करेगी। फलतः कुछ ही दिनों के अंदर मुस्लिम लीग ने उपर्युक्त योजना को यह कहते हुए अस्वीकार कर दिया कि कांग्रेस संविधान सभा में अपने बहुमत का दुरुपयोग करने का इरादा रखती है।

पुनः केबिनेट मिशन योजना की व्याख्या के संबंध में भी विवाद खड़ा हुआ। क्या संविधान सभा को ऐसी व्याख्या का अधिकार था? फिर यह भी स्पष्ट नहीं था कि क्या प्रांतों या खंडों (सेक्शन्स) में समूहीकरण अनिवार्य है या नहीं? क्या प्रांत या खंड अपना संविधान सामान्य बहुमत से बना सकता था? वाइसराय ने मौलाना आजाद को आश्वस्त किया था कि समूहीकरण अनिवार्य नहीं है। किंतु मुस्लिम लीग के अध्यक्ष इसकी अनिवार्यता पर जोर देते थे और ब्रिटिश सरकार भी इस विचार से सहमत थी।

फिर यह भी विचारणीय था कि क्या यूरोप निवासी संविधान सभा में भाग ले सकते थे? डॉ. मुंशी द्वारा गांधीजी

को दिए गए लिखित मतानुसार वे नहीं ले सकते थे। अंततोगत्वा किसी भी यूरोपवासी को सभा में सम्मिलित नहीं किया गया।

संविधान सभा के सत्र के प्रथम दिन कौन अध्यक्षता करेगा, इस पर भी विवाद उत्पन्न हुआ। लार्ड वेवेल का मानना था कि चूँकि संविधान सभा का निर्णय ब्रिटिश सरकार ने किया था, अतः अध्यक्ष नियुक्त करने का अधिकार भी ब्रिटिश सरकार को ही होना चाहिए। नेहरू संविधान सभा को सार्वभौम मानते थे, अतः ब्रिटिश सरकार के इस अधिकार को स्वीकार करने को प्रस्तुत नहीं थे। अंत में अमेरिका तथा फ्रांस की संविधान सभाओं की परंपरानुसार यह निर्णय हुआ कि सभा के वरिष्ठतम् सदस्य को तब तक के लिए अध्यक्षता करने दिया जाए जब तक संविधान सभा अपना अध्यक्ष निर्वाचित नहीं कर लेती है।

संविधान सभा का सत्र प्रारंभ

उपयुक्त तमाम प्रश्नों एवं उलझनों के मध्य 9 दिसंबर, 1946 को संविधान सभागार, दिल्ली में 11 बजे प्रातः संविधान सभा की बैठक हुई। कांग्रेस विशेषज्ञ समिति की योजना के अनुसार कांग्रस अध्यक्ष आचार्य जे.बी. कृपलानी ने संविधान सभा के अस्थाई सभापति पद के लिए सबसे वरिष्ठ सदस्य सच्चिदानंद सिन्हा का नाम प्रस्तावित किया जिसका गोविंद बल्लभ पंत ने समर्थन किया। 292 में से सिर्फ 207 सदस्यों ने अपना प्रत्ययपत्र प्रस्तुत किया। अनुपस्थित सदस्यों में प्रायः मुस्लिम लीग के सदस्य थे जो सभा का बहिष्कार कर रहे थे। इसी सत्र में फ्रैंक एंथोनी को उपाध्यक्ष नामित किया गया तथा एच.वी.आर. आयंगर को सचिव तथा बी.एन. राव को संविधान सलाहकार नियुक्त किया गया।

दूसरे दिन की बैठक में सभा ने केंद्रीय विधान सभा के नियमों को तब तक के लिए अस्थाई रूप से स्वीकार कर लेने के नेहरू के प्रस्ताव को पारित कर दिया जब तक इस सभा के अपने स्थाई नियम नहीं बन जाते। तत्पश्चात् सभा ने भारत को एक स्वतंत्र, सार्वभौम गणतंत्र घोषित करने के अपने दृढ़ संकल्प तथा ब्रिटिश इंडिया के बाहर के क्षेत्रों, भारतीय राज्यों तथा ब्रिटिश इंडिया के बाहर के भारत के उन हिस्सों को जो स्वतंत्र सार्वभौम भारत का अंग बनने के इच्छुक थे, के लिए संविधान बनाने की घोषणा की। संविधान सभा ने यह भी स्पष्ट कर दिया कि संविधान की सार्वभौमिकता का स्रोत जनता होगी और संविधान सामान्य जनता को न्याय, समानता तथा स्वतंत्रता की गारंटी प्रदान करेगा। अल्पसंख्यकों, पिछड़े एवं आदिवासी क्षेत्रों, दलितों एवं अन्य पिछड़े वर्गों को पर्याप्त रक्षोपाय प्रदान करने का भी निश्चय किया गया। अंत में बी. एन. राव ने सिन्हा का अध्यक्षीय भाषण पढ़ कर सुनाया।

10 दिसंबर, 1946 को सभा ने अपने निर्वाचन के नियमों को पारित किया तथा 11 दिसंबर, 1946 को डॉ. राजेंद्र प्रसाद को स्थाई अध्यक्ष निर्वाचित किया। 13 दिसंबर को नेहरू ने संविधान सभा में अपने उद्देश्य प्रस्ताव को उपस्थित किया। इसके पश्चात् नेहरू, पुरूषोत्तम दास टंडन एवं डॉ. एस. आर. जयकर ने उद्देश्य प्रस्ताव के लिए एक संशोधन प्रस्तुत किया तथा यह सुझाव दिया कि उक्त प्रस्ताव जो अत्यंत महत्व का है उसे पारित करने की प्रक्रिया को कुछ दिनों के लिए स्थगित किया जाए जिससे भारतीय राज्यों तथा मुस्लिम लीग (यदि संविधान सभा में सम्मिलित होते हैं तो) के सदस्यों को इसमें भाग लेने का मौका मिल सके। डॉ. जयकर के संशोधन प्रस्ताव, सुझाव तथा भाषण ने सभा में तनावपूर्ण वातावरण उत्पन्न कर दिया। इसी बीच सभा के अध्यक्ष डॉ. राजेंद्र प्रसाद ने डॉ. अंबेडकर को उक्त प्रस्ताव पर बोलने के लिए अप्रत्याशित रूप से आमंत्रित कर दिया। इससे कांग्रेस सदस्यों का आक्रोश और भी बढ़ गया। डॉ. अंबेडकर कांग्रेस के घोर विरोधी थे, इसलिए कांग्रेस सदस्यों के मन में यह संदेह उत्पन्न होना स्वाभाविक था कि डॉ. अंबेडकर प्रस्ताव की भर्त्सना करेंगे।

परंतु डॉ. अंबेडकर ने वैसा कुछ नहीं किया। प्रस्ताव पर उनका भाषण इतना सारगर्भित तथा राष्ट्रीय भावना और राष्ट्रहित से ओत-प्रोत था कि उनके कट्टर विरोधियों (कांग्रेस सदस्यों) ने करतल ध्वनि द्वारा उनकी भूरि-भूरि प्रशंसा की। वस्तुतः डॉ. अंबेडकर के उस ऐतिहासिक भाषण ने संविधान निर्माण में उनकी भूमिका ही बदल दी। कांग्रेस के समर्थन के बाद उन्हें संविधान निर्माण में महत्वपूर्ण उत्तरदायित्व सौंपा गया। इधर उनके भाषण के फलस्वरूप सभा में तनाव समाप्त हो गया तथा शांतिपूर्ण वातावरण बन गया। उनके सुझाव के अनुसार सर्वसम्मति से उद्देश्य प्रस्ताव पर बहस को अगले सत्र तक के लिए स्थगित कर दिया गया।

संविधान सभा का दूसरा सत्र 20 जनवरी, 1947 से प्रारंभ हुआ। पूर्ण निर्णयानुसार नेहरू के प्रस्ताव पर बहस का प्रश्न उठा। डॉ. जयकर जिन्होंने इसमें संशोधन के लिए प्रस्ताव लाया था, उन्होंने ही कहा कि चूंकि मुस्लिम लीग ने संविधान सभा में सम्मिलित होने का मन अभी तक नहीं बनाया है, इसलिए उद्देश्य प्रस्ताव पर इससे अधिक समय तक बहस रोकना उचित नहीं है। 22 जनवरी, 1947 को इस पर अंतिम चर्चा हुई और तदनंतर वह सर्वसम्मति से पारित हो गया।

इसके पश्चात् संविधान निर्माण के लिए विभिन्न समितियों के गठन क कार्य प्रारंभ हुआ। 24 जनवरी, 1947 को संविधान सभा ने केबिनेट मिशन द्वारा संस्तुत मौलिक एवं अल्पसंख्यकों को संबंधित एक सलाहकार समिति का गठन किया। सरदार बल्लभ भाई पटेल को इसका अध्यक्ष बनाया गया। इस समिति में 50 सदस्य थे। डॉ. अंबेडकर भी इसके सदस्य बनाये गये। अपने सफल कार्यान्वयन के लिए इस समिति ने निम्नलिखित उपसमितियों का गठन किया।

1. मौलिक अधिकार उपसमिति
2. अल्पसंख्यक उपसमिति
3. उत्तरपूर्वी सीमावर्ती जनजाति क्षेत्र उपसमिति
4. असंम्मिलित तथा आंशिक रूप से असम्मिलित क्षेत्र (असम के क्षेत्रों को छोड़कर) उपसमिति।

डॉ. अंबेडकर इनमें से प्रथम दो उपसमितियों के सदस्य बनाए गए। 30 अप्रैल, 1947 को पुनः सभा ने निम्नलिखित अन्य तीन समितियों की नियुक्ति की।

1. संघीय शक्ति समिति
2. संघीय संविधान समिति तथा
3. आंतरिक संविधान समिति

नेहरू इनमें से प्रथम दो के तथा सरदार पटेल तीसरे के अध्यक्ष थे। डॉ. अंबेडकर संघीय संविधान समिति के सदस्य बनाये गये।

सभा की अपेक्षा थी कि ये समितियाँ शीघ्रातिशीघ्र अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत करें जिन पर विचार-विमर्श कर संविधान निर्माण का कार्य प्रारंभ हो।

संविधान सभा का संकट

इतना होते हुए भी मुस्लिम लीग के संविधान सभा में सम्मिलित नहीं होने के अंतिम निर्णय ने गहन समस्या उत्पन्न कर दी। प्रधान मंत्री एटली ने संसद में अपने महत्वपूर्ण भाषण में भारतीय संविधान सभा के पूर्ण प्रतिनिधित्व के साथ कार्य करने में उत्पन्न व्यवधान पर चिंता प्रकट करते हुए कहा : ब्रिटिश सरकार भारतीय संविधान द्वारा स्थापित एवं सभी दलों द्वारा स्वीकृत सत्ता को अपना उत्तरदायित्व केबिनेट मिशन योजना के अनुसार सौंपना चाहती है। किंतु वर्तमान अनिश्चतता की स्थिति खतरनाक है और इसे अनिश्चित काल तक नहीं चलाया जा सकता। सरकार यह स्पष्ट कर देना चाहती है कि यह उसका दृढ़ निश्चय है कि जून, 1948 तक उत्तरदायी भारतीय हाथों में सत्ता हस्तांतरण के लिए आवश्यक कदम उठाएगी। किंतु उस समय तक यदि कोई संविधान पूर्ण प्रतिनिध्यात्मक सभा द्वारा न बनाया जा सकता तो ब्रिटिश सरकार को बाध्य होकर भारतीयों के सर्वोत्तम हित में किसी न किसी निकाय को सत्ता सौंपना ही पड़ेगा।[7]

माउंटबेटेन योजना

भारत को एक निर्धारित अवधि के अंतर्गत आजाद करने के अपने दृढ़ संकल्प पर पहल करते हुए प्रधानमंत्री एटली ने वायसराय के पद पर वेवेल की युद्धकालीन नियुक्ति को समाप्त कर उनके स्थान पर माउंट बेटेन को नियुक्त किया। माउंट बेटेन भारत की समस्या को शीघ्र सुलझाने में जुट गए। भारत आने के 6 सप्ताह के अंदर ही उन्होंने सत्ता हस्तांतरण की दृष्टि से एक योजना तैयार की तथा भारतीय नेताओं से बातचीत करने के बाद 3 जून, 1947 को घोषणा की कि संविधान सभा द्वारा निर्मित कोई संविधान देश के उन भागों पर लागू नहीं होगा जो इसे स्वीकार करना न चाहे। माउंट बेटेन की योजना के अनुसार अंततोगत्वा भारत का विभाजन हुआ तथा पाकिस्तान के लिए अलग से संविधान सभा गठित हुआ। साथ ही, विभाजन के फलस्वरूप पश्चिम बंगाल, असम तथा पूर्वी पंजाब में नया निर्वाचन हुआ और 31 अक्टूबर, 1947 को जब संविधान सभा की बैठक हई तो इसके सदस्यों की संख्या मात्र 299 बच गई।

संविधान सभा का नया संस्करण

14 अगस्त, 1947 को संविधान सभा की बैठक हुई और भारत की स्वतंत्रता के मुहूर्त के समय इसके अध्यक्ष तथा सदस्यों ने भारत तथा यहाँ के लोगों की सेवा करने का संकल्प

किया। अध्यक्ष ने वाइसराय के सूचनार्थ निम्न बिदुओं को स्पष्ट किया कि –

1. संविधान सभा ने भारत पर शासन करने का अधिकार ग्रहण कर लिया है।
2. भारत की संविधान सभा ने लार्ड माउंटबेटेन को 15 अगस्त, 1947 से भारत के गवर्नर-जनरल बनाने की संस्तुति को स्वीकार लिया है तथा यह सूचना लार्ड माउंटबेटेन को अध्यक्ष एवं नेहरू देंगे।

तत्पश्चात् 15 अगस्त, 1947 को माउंटबेटेन ने संविधान सभा को संबोधित किया तथा सभा को राजा का संदेश भी सुनाया।

20 अगस्त, 1947 को अध्यक्ष ने निम्नलिखित मुद्दों पर विचार के लिए एक समिति का गठन किया –

1. भारत स्वतंत्रता अधिनियम पर विचार।
2. भारत सरकार अधिनियम 1935 को अनुकूल करना।
3. भारतीय संविधान सभा में लागू नियमों एवं प्रचलित आदेशों की समीक्षा।
4. प्रक्रिया संबंधी मामलों पर रिपोर्ट करना।

उक्त रिपोर्ट के आधार पर के.एम. मुंशी द्वारा लाया गया एक प्रस्ताव पारित हुआ जिसमें संविधान सभा को निम्न उत्तरदायित्व सौंपा गया :

1. संविधान सभा संविधान के उस अधूरे कार्य को पूरा करेगी, जिसका श्रीगणेश 9 दिसंबर, 1946 को हुआ था, तथा
2. नए संविधान के अनुसार विधायिका के गठन तक शासन की विधायिका का कार्य करेगी।,

गवर्नर-जनरल ने उपर्युक्त संस्तुति को भारतीय अस्थाई संविधान (द्वितीय संशोधन) आदेश, 6 अक्टूबर, 1947 के द्वारा लागू किया।

29 अगस्त, 1947 को संविधान सभा ने एक प्रारूप समिति का गठन किया जिसके निम्नलिखित सदस्य थे :

1. अलादि कृष्णस्वामी अय्यर
2. एन. गोपालस्वामी आयंगर
3. डॉ. बी. आर. अंबेडकर
4. डॉ. के. एम. मुंशी
5. सैयद मुहम्मद सादुल्ला
6. बी. एल. मित्तर
7. डी. पी. खेतान

प्रारूप समिति की पहली बैठक 30 अगस्त को हुई जिसमें डॉ. अंबेडकर को सर्वसम्मति से इसका अध्यक्ष चुना गया। इस समिति को संविधान का निर्माण विभिन्न समितियों की संस्तुतियों पर संविधान सभा के निर्णयों के अनुरूप करने का दायित्व सौंपा गया। इसके अतिरिक्त संविधान सभा को निर्देश था कि कुछ मामलों में भारत सरकार अधिनियम 1935 के प्रावधानों का अनुसरण किया जाए। इस समिति के गठन से पूर्व ही सभा ने सर बी. एन. राव को संविधान का प्रारूप तैयार करने का कार्य सौंपा था। विश्वकोषीय ज्ञान, विशाल अनुभव एवं विलक्षण प्रतिभा वाले सर बी. एन. राव ने पूरी निष्ठा, लगन और परिश्रम से अपना कार्य संपादित किया। इस कार्य के लिए उन्होंने विदेश भ्रमण कर अमेरिका के राष्ट्रपति, आयरलैंड के प्रधान मंत्री तथा अनेक विधिवेत्ताओं एवं न्यायाधीशों से भी बातचीत की। इनके द्वारा बनाए गए प्रारूप में 240 अनुच्छेद तथा 13 अनुसूचियाँ थीं। राव के प्रारूप पर सम्यक विचार कर समिति को समुचित निर्णय लेने का निर्देश था। इसके अतिरिक्त नेहरू का उद्देश्य प्रस्ताव तो समिति के कार्य के लिए आधार-स्तंभ था ही।

27 अक्टूबर, 1947 को प्रारूप समिति ने संविधान निर्माण का अपना कार्य विधिवत प्रारंभ किया। संविधान सलाहकार बी. एन. राव के प्रारूप के एक-एक अनुच्छेद पर विचार करते हुए इसने संविधान निर्माण का कार्य शुरु किया। 13 फरवरी, 1948 तक इसकी कुल 44 दिन बैठकें हुईं। 14 फरवरी, 1948 को समिति ने सभा के अध्यक्ष को प्रारूप को अंतिम रूप देकर अग्रिम कार्यवाही हेतु समर्पित किया। किंतु इसका कार्य समाप्त नहीं हुआ। प्रारूप संविधान आठ महीने तक आलोचनाओं एवं सुझावों के लिए सार्वजनिक रूप से उपलब्ध रखा गया। इस कई प्रांतीय विधान सभाओं यथा बंबई, पश्चिम बंगाल, बिहार, मद्रास, पूर्व पंजाब एवं मध्य प्रांतों में विचार-विमर्श हुआ। यद्यपि उनमें सामान्य रूप से प्रारूप को समर्थन ही मिला किंतु वित्तीय प्रावधानों पर गंभीर आपत्तियाँ उठाई गईं। स्पष्टतया इस प्रकार की आलोचनाओं, आपत्तियों तथा सुझावों पर प्रारूप समिति पर विचार कर संविधान के प्रारूप में परिवर्तन करना अपेक्षित था अथवा उनका स्पष्टीकरण एवं प्रत्युत्तर प्रस्तुत करना था।

संविधान सभा में विचार

4 नवंबर, 1948 को चर्चा के लिए संविधान का प्रारूप संविधान सभा के समक्ष रखा गया। उसमें 315 अनुच्छेद तथा 8 सूचियाँ थीं। 7,635 संशोधन प्रस्तुत हुए जिनमें से 2,473 पर सभा में विधिवत् विचार हुआ। भारत सरकार के विधि मंत्री तथा प्रारूप समिति के अध्यक्ष के रूप में डॉ. अंबेडकर ने विचार-विमर्श का मार्गदर्शन किया। सभी प्रकार की आलोचनाओं का प्रत्युत्तर, आपत्तियों का निवारण तथा शंकाओं का निराकरण करना उनका उत्तरदायित्व था। साथ ही स्वीकृत सुझावों एवं संशोधनों के आधार पर संविधान के प्रारूप में वांछित परिवर्तन का कार्य भी उनकी अध्यक्षता वाली प्रारूप समिति का ही था। इस प्रक्रिया में संविधान की आकृति में और भी वृद्धि हुई और उसमें 395 अनुच्छेद तथा 8 अनुसूचियाँ हो गईं, और भारत के संविधान ने विश्व का विशालतम संविधान होने का कीर्तिमान स्थापित किया।

अंत में 26 नवंबर, 1949 को संविधान सभा ने संविधान को पारित एवं स्वीकृत कर राष्ट्र को समर्पित कर दिया। 9 दिसंबर, 1946 से 26 नवंबर, 1949 तक – यानि 2 वर्ष 11 महीने तथा 17 दिनों तक संविधान सभा का कार्यकाल रहा। इसमें 11 सत्रों में इसने अपना कार्य संपादित किया। इन 11 सत्रों में प्रथम 6 उद्देश्य प्रस्ताव तथा विभिन्न समितियों की संस्तुतियों पर विचार-विमर्श करने में लगा। अंतिम पाँच सत्रों में संविधान के प्रारूप पर विचार हुआ। सभा की 165 दिनों की बैठकें हुईं जिसमें 114 दिन प्रारूप पर विचार-विमर्श एवं बहस करने में लगे।

कई लोगों ने इस बात की आलोचना भी की थी कि संविधान निर्माण में आवश्यकता से अधिक समय लगा। इसका सुंदर स्पष्टीकरण डॉ. अंबेडकर ने सभा में ही प्रस्तुत किया। अमेरिका को अपना संविधान बनाने में सिर्फ 4 महीने, कनाडा को 2 वर्ष 5 महीने, आस्ट्रेलिया को 9 वर्ष तथा दक्षिण अफ्रीका को 1 वर्ष लगे। भारत को इस तुलना में अमेरिका तथा दक्षिण अफ्रीका से अधिक समय अवश्य लगा, किंतु कनाडा से बहुत अधिक नहीं और आस्ट्रेलिया से तो बहुत ही कम लगा। तुलना में यह भी ध्यान रखना चाहिए कि इन देशों के संविधान भारत के संविधान से बहुत छोटे हैं। अमेरिका के संविधान में तो मूलतः 7 ही अनुच्छेद हैं, कनाडा में 147, आस्ट्रेलिया में 128 तथा दक्षिण अफ्रीका में 153। फिर उन मुल्कों में प्रारूप संविधान में संशोधन को भारत जैसी विस्तृत प्रक्रिया नहीं थी। वे मूल रूप से ही पारित हुए।

संविधान निर्माताओं की भूमिकाएँ

संविधान निर्माण में व्यक्ति का ही नहीं, विचार और संगठन की भी भूमिकाएँ होती हैं। भारतीय संविधान इसका विलक्षण उदाहरण है। दीर्घकालीन भारतीय स्वतंत्रता संग्राम के अंतर्गत न केवल संग्राम की रणनीति पर ही विचार होता था, बल्कि राष्ट्र की आजादी के बाद किस प्रकार की राजनीतिक व्यवस्था हो इस पर भी गंभीर चिंतन हुआ करता था। स्वतंत्र भारत के संविधान में जिन राजनीतिक मूल्यों और मान्यताओं को स्वीकार किया गया है, उसके प्रति राष्ट्र की आस्था एवं निष्ठा बहुत पहले ही दृढ़ हो चुकी थी। साथ ही, भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस, जिसके नेतृत्व में आजादी की लड़ाई लड़ी गई और देश को आजादी मिली, उस संगठन ने संविधान निर्माण में भी कम महत्वपूर्ण योगदान नहीं दिया है। इसलिए संविधान नहीं दिया है। इसलिए संविधान निर्माताओं की श्रेणी में इस संगठन को भी स्थान देना अनुचित नहीं होगा।

भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस

संभवतः यह कहना भी अनुचित नहीं होगा कि भारतीय संविधान निर्माण में व्यक्ति से भी बढ़कर सर्वाधिक महत्वपूर्ण भूमिका उस संगठन की रही है जिसे भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के नाम से जाना जाता है। इसी संगठन के नेतृत्व में भारत की आजादी की लड़ाई का बिगुल बजा और इसी की कार्यप्रणाली के अंतर्गत उन राजनीतिक मूल्यों और विचार दर्शन का संकलन हुआ जो संविधान का आधार स्तंभ बना। भारत की स्वतत्रंता तथा स्वतंत्रता के बाद चिरकाल तक राजनीतिक नेतृत्व का श्रेय भी इसी संगठन को मिला। संविधान निर्माण में भी इसकी अत्यंत महत्वपूर्ण भूमिका रही। स्वतत्रता प्राप्ति के पूर्व से ही इसने संविधान निर्माण का प्रयास एवं अभ्यास प्रारंभ कर दिया था। ब्रिटिश शासन से संविधान सभा गठन की स्वीकृति मिल जाने पर भी उसमें अनेक अड़चनें आईं। मुस्लिम लीग के बहिष्कार से ऐसा लगता था कि संविधान निर्माण संभव ही नहीं होगा। परंतु कांग्रेस के दृढ़

संकल्प के सामने कोई बाधा टिक न सकी। देशवासियों के सर्वाधिक विश्वास एवं समर्थन के कारण कांग्रेस का संविधान सभा में भी बहुमत एवं वर्चस्व स्थापित हुआ। परंतु अपने वर्चस्व का उपयोग इसने संकीर्ण दलगत हित के लिए नहीं किया। कांग्रेस के लिए राष्ट्र हित सर्वोपरि था और संविधान निर्माण में भी इसने उस उदारवादिता को खंडित नहीं होने दिया। संविधान सभा में बहुत से ऐसे सदस्य थे जो मूलतः कांग्रेसी नहीं थे, किंतु जिनकी योग्यता और उपयोगिता को ध्यान में रखकर कांग्रेस ने अपने समर्थन से उन्हें सभा में स्थान दिलाया था। इस संदर्भ में डॉ. अंबेडकर की सदस्यता कांग्रेस की उदारता तथा राष्ट्रहित को ध्यान में रखकर संविधान निर्माण करने की उसकी प्रतिबद्धता का परिचायक है। डॉ. अंबेडकर कांग्रेस के घोर विरोधी थे। गांधीजी के भी कटु आलोचक थे। तथापि उनकी विधि विज्ञता तथा भारत के विशाल दलित वर्ग की स्थिति एवं हित के प्रति उनकी चिंता एवं क्रियाशीलता के कारण कांग्रेस ने उन्हें न केवल संविधान सभा का सदस्य बनाया बल्कि विधि मंत्री एवं प्रारूप समिति का अध्यक्ष बनाकर संविधान निर्माण का गुरुतर उत्तरदायित्व सौंपा। राष्ट्रहित संवर्द्धन के लिए अपने विरोधी को इतना बड़ा सम्मान और अधिकार प्रदान करना उच्चकोटि की राजनीति में ही संभव है।

सभा में कांग्रेस के सदस्यों ने एक दल के रूप में भी सराहनीय योगदान दिया। कांग्रेस ने संविधान निर्माण प्रक्रिया को प्रभावी ढंग से प्रशस्त एवं सहज किया। कांग्रेस की इस भूमिका की सराहना करते हुए स्व. डॉ. अंबेडकर ने सभा में अपने भाषण में कहा :

कांग्रेस दल के अनुशासन के कारण ही प्रारूप समिति ने सभा में संविधान निर्माण का पथप्रदर्शन प्रत्येक अनुच्छेद तथा प्रत्येक संशोधन की नियमित की आवश्यकता के साथ किया। इसीलिए सभा में संविधान के प्रारूप के सहज रूप में पारित होने के लिए कांग्रेस दल सभी श्रेयों के लिए अधिकृत है।

इस अनुशासन के साथ-साथ कांग्रेस दल में आंतरिक स्वतंत्रता और उसकल विलक्षण संस्कृति ने भी योगदान दिया। इसकी चर्चा करते हुए डॉ. अंबेडकर ने कहा था कि यदि सभी सदस्य दलीय अनुशासन में अपने को बाँध लेते तो संविधान सभा की कार्यवाही बिल्कुल ही नीरस हो गई होती। दलीय अनुशासन ने तो फिर पूरी सभा को ही "जी हाँ" कहने वाले लोगों की भीड़ में परिणत कर दिया होता, किंतु सौभाग्यवश से कुछ बागी सदस्य भी निकल आये। एच.वी. कामथ, डॉ. पी. एस. देशमुख, प्रो. शिब्बन लाल सक्सेना, पंडित ठाकुरदास भार्गव, प्रो. के. टी. शाह तथा पं. हृदयनाथ कुंजरू ऐसे सदस्य थे जिन्होंने दल के दृष्टिकोण की बिना परवाह किए अपना मत व्यक्त किया। उनके वैचारिक बिंदुओं से बहस में जीवंतता आयी तथा विषय-चर्चा की गुणवत्ता में वृद्धि हुई।

जवाहरलाल नेहरू का योगदान

कांग्रेस के जिन महारथियों ने संविधान निर्माण में सर्वाधिक महत्वपूर्ण योगदान दिया, उनमें पहला स्थान जवाहरलाल नेहरू का है। नेहरू न केवल 2 सितंबर, 1946 से अंतरिम सरकार में उपराष्ट्रपति तथा 15 अगस्त, 1947 से देश के प्रधान मंत्री बने बल्कि संविधान सभा में वे कांग्रेस के नेता भी थे। व्यवधानों को दूर कर संविधान सभा के गठन में भी उनकी महत्वपूर्ण भूमिका थी। नेहरू प्रतिभा के धनी तो थे ही, राजनीतिक मामलों एवं शासन प्रणालियों की भी उनको व्यापक जानकारी थी। अतः उनके द्वारा बनाया गया "उद्देश्य प्रस्ताव" जिसे सभा ने सर्वसम्मति से स्वीकार किया भावी संविधान की आधारशिला बनी और उसी के सार को संविधान की प्रस्तावना के रूप में शीर्ष स्थान मिला। संविधान सभा के अध्यक्ष डॉ. राजेंद्र प्रसाद के इस कथन में तनिक भी अतिशयोक्ति नहीं है कि संविधान के मूल तत्वों का निरूपण नेहरू और पटेल के द्वारा ही हुआ। उद्देश्य प्रस्ताव को संविधान सभा में उपस्थित करते हुए जिस प्रखरता एवं ओजस्विता से उसमें समाविष्ट आदर्श एवं सिद्धांत की व्याख्या, विश्लेषण एवं स्पष्टीकरण तथा उनके औचित्य एवं प्रासंगिकता का नेहरू ने अनुरक्षण किया वह भी कम महत्वपूर्ण नहीं। इस प्रकार संविधान का मेरुदंड नेहरू ने तैयार किया। इसके अतिरिक्त नेहरू के नेतृत्व की विलक्षणता, देश में उनकी वर्णनातीत लोकप्रियता तथा संविधान सभा के कांग्रेस सदस्यों का उनमें व्यापक विश्वास के कारण उन प्रस्तावों को सभा में पारित होने में कठिनाई नहीं होती थी जिन्हें नेहरू का समर्थन रहता था। पुनश्च, शासन की व्यस्तता के बावजूद नेहरू सभा द्वारा नियुक्त कई उन समितियों के अध्यक्ष रूप

में कार्य करते रहे, जिनकी संस्तुतियों के आधार पर संविधान का निर्माण होना था।

सरदार पटेल

पटेल विधि विशेषज्ञ थे। इसलिए विभिन्न प्रावधानों पर उनका मत एवं विवेचन काफी महत्वपूर्ण होता था। इसके अतिरिक्त नेहरू और पटेल के कारण बहुसंख्यक कांग्रेस सदस्य किसी भी मुद्दे पर आसानी से सहमत हो जाते थे। इससे संविधान निर्माण के कार्य में सहजता होती थी। डॉ. अंबेडकर ने ठीक ही कहा है कि जहाँ नेहरू और पटेल किसी मुद्दे पर एक मत होते थे, वहाँ सभा में निर्णय आसानी से हो जाता था। किंतु जहाँ उनमें मतभेद होते थे, वहाँ निर्णय लेना मुश्किल था। इसलिए टी. टी. कृष्णमाचारी ने सत्य ही कहा है कि भारत के राष्ट्रपति डॉ. राजेंद्र प्रसाद की यह उक्ति भी यथार्थपूर्ण है कि नेहरू तथा पटेल को ही संविधान के मौलिक तत्वों के निर्धारण का श्रेय जाता है। डॉ. के. एम. मुंशी के अनुसार इस संबंध में सबसे महत्वपूर्ण बात थी नेहरू की भारत को एक सार्वभौम लोकतंत्र बनाने की परिकल्पना तथा शक्ति और स्थायित्व के स्त्रोतों के संबंध में पटेल की अंर्तज्ञान जनित परिदृश्य।

राजेंद्र प्रसाद एवं मौलाना अब्दुल कलाम आजाद

नेहरू और पटेल के बाद संविधान निर्माण में राजेंद्र प्रसाद का योगदान महत्व रखता है। उनमें नैसर्गिक प्रतिभा एवं अतुलनीय नैतिक तथा चारित्रिक बल था। चिरकाल से कांग्रेस नेतृत्व के साथ जुड़े रहने के कारण उनकी राष्ट्रव्यापी ख्याति थी। संविधान सभा की अध्यक्षता का उत्तरदायित्व तथा स्वतंत्रता के बाद सर्व सम्मति से राष्ट्रपति का सम्मान उन्हें अकारण ही नहीं मिला था। उन्होंने इस उत्तरदायित्वों का निर्वहन अत्यंत निष्ठा एवं दक्षतापूर्वक किया।

संविधान सभा में सभी सदस्यों को उनमें अटूट आस्था एवं विश्वास था। जिस निष्पक्षता, शिष्टता तथा सौम्यता के साथ उन्होंने सभा का संचालन किया उसके कारण सभी सदस्यों को अपना विचार सहजता एवं निर्भीकता से व्यक्त करने का पूरा अवसर मिला। सभा की दो समितियों रूल्स कमेटी तथा स्टीयरिंग कमेटी के वे अध्यक्ष भी थे। यद्यपि उन्होंने कभी भी किसी रूप में अपने विचारों अथवा दृष्टिकोणों से किसी भी सदस्य को प्रभावित करने की अनर्गल चेष्टा नहीं की, तथापि वे प्रारूप समिति के सदस्यों के बराबर संपर्क में रहे तथा व्यवहार में उन्होंने जो भी निर्णय लिया उनमें किसी न किसी रूप में इनका प्रभाव अवश्य था। उनके परामर्श और निर्देश से प्रारूप समिति को अपने उत्तरदायित्व निर्वहन में पर्याप्त सहायता मिली। नेहरू और पटेल को भी समस्या को सुलझाने में प्रसाद का परामर्श लेना ही पड़ता था।

प्रसाद की तरह आजाद का भी महान योगदान था। वे एक से अधिक बार कांग्रेस के अध्यक्ष रह चुके थे। 1940-1946 की अवधि में भी वे कांग्रेस अध्यक्ष थे। मुसलमान होते हुए भी जिस अटूट निष्ठा के साथ पाकिस्तान बनाने का विरोध किया तथा देश विभाजन के पश्चात् भी हिंदुस्तान को अपने वतन के रूप में शिरोधार्य किया था, वह उनकी देशभक्ति और उनके उदार विचार का प्रतीक था। वे वर्षों तक कांग्रेस के निर्णायकों में एक बने रहे और न केवल कांग्रेस अपितु पूरे राष्ट्र के लोगों में उनके प्रति अपार श्रद्धा एवं विश्वास था। वे संविधान सभा की कई समितियों के सदस्य थे और सभा में उनके तर्क एवं विचारों को महत्व दिया जाता था।

इस प्रकार नेहरू तथा पटेल के बाद प्रसाद और आजाद की संविधान निर्माण में महत्वपूर्ण भूमिका रही। सभा के कई अन्य सदस्य भी ऐसे थे जो बड़े प्रतिभावान एवं प्रभावशाली थे। उनके योगदानों की उपेक्षा नहीं की जा सकती। ऐसे सदस्यों में गोविंद बल्लभ पंत, जगजीवन राम, पट्टाभि सीता रमैया, जे. बी. कृपलानी, जयराम दौलतराम, शंकरराव देव, एच. सी. मुखर्जी, दुर्गाबाई के. सन्थानम एवं सत्यनारायण सिन्हा के नाम प्रमुख हैं।

डॉ. के. एम. मुंशी, सर बी. एन. राव तथा एस. एन. मुखर्जी

डॉ. के. एम. मुंशी न केवल संविधान सभा के सदस्य थे बल्कि वे सभा की कई समितियों, जिनमें सर्वाधिक महत्वपूर्ण प्रारूप समिति के भी सदस्य थे। वे साहित्यिक, परिश्रमी एवं कर्त्तव्यनिष्ठ थे। गांधीजी का उन पर विशेष स्नेह था। संविधान सभा की बहस तथा प्रारूप समिति द्वारा संविधान निर्माण में तो उनका भरपूर योगदान था ही, साथ ही अन्य

रूप में भी उनकी भूमिका सराहनीय थी। इसकी चर्चा की जा चुकी है कि 1934 में ही गांधीजी के अनुरोध पर उन्होंने संविधान सभा के औचित्य पर एक लेख लिखा था। अस्तु संविधान निर्माण के प्रारंभिक प्रयास से भी वे जुड़े थे। पुनः जुलाई, 1946 में जब कांग्रेस कार्यकारिणी परिषद् संविधान निर्माण के प्रारंभिक प्रयास से भी वे जुड़े थे। पुनः जुलाई, 1946 में जब कांग्रेस कार्यकारिणी परिषद् संविधान निर्माण के लिए नेहरू की अध्यक्षता में एक विशेषज्ञ समिति का गठन किया, उसमें सभी डॉ. मुंशी को गांधीजी के आग्रह पर शामिल होना पड़ा। यहाँ भी उस समिति के निर्णयानुसार डॉ. मुंशी ने ही संविधान का प्रथम प्रारूप तैयार किया था। उसकी बहुत सी बातें नेहरू ने उद्देश्य प्रस्ताव में समाविष्ट की गईं। इस प्रकार डॉ. मुंशी के अवदान को नजरअंदाज नहीं किया जा सकता।

संविधान सभा के गठन के बाद सर बी. एन. राव संविधान सलाहकार नियुक्त हुए। जिस परिश्रम, कुशलता और ज्ञान पटुता से उन्होंने संविधान का प्रारूप तैयार किया उसके लिए उन्हें यथेष्ट श्रेय अवश्य मिलना चाहिए। उन्हीं के प्रारूप को आधार मानकर ही प्रारूप समिति ने संविधान का निर्माण किया।

एस. एन. मुखर्जी की दक्षता और भूमिका का बखान स्वयं डॉ. अंबेडकर ने किया है। संविधान के प्रावधानों में उनके भाव और आशय का अनुरक्षण करते हुए उपयुक्त भाषा में उन्हें पिरोने का कार्य एस. एन. मुखर्जी ने किया। उनका यह योगदान संविधान निर्माण में काफी महत्व रखता है।

डॉ. अंबेडकर की भूमिका

भारतीय संविधान निर्माण में डॉ. अंबेडकर की भूमिका सर्वाधिक चर्चित रही है। सामान्य जन आज भी उन्हीं को भारतीय संविधान का जनक मानते हैं। ऐसा करना पूर्णतः यथार्थपरक तो नहीं है, किंतु इस बात को अस्वीकार नहीं किया जा सकता है कि भारतीय संविधान निर्माण कार्य में सर्वाधिक परिश्रम डॉ. अंबेडकर ने ही किया है। अस्तु डॉ. अंबेडकर और भारतीय संविधान में तादाम्य स्थापित हो गया है। संविधान सभा के कई सदस्यों ने तथा अन्य दिग्गजों ने तो उन्हें आधुनिक मनु कहकर उनकी प्रशंसा की है।

भारतीय संविधान निर्माण में डॉ. अंबेडकर के अवदान को सही एवं वस्तुनिष्ठ मूल्यांकन के लिए तथ्यपरक होना आवश्यक है। भारतीय संविधान निर्माण की तीन अवस्थाएँ हैं:

1. प्रारंभिक अवस्था : 1934 से 9 दिसंबर, 1946 यानि संविधान सभा के गठन तक।
2. विकासकालीन अवस्था: 9 दिसंबर, 1946 से 29 अगस्त, 1947 यानि प्रारूप समिति के गठन तक।
3. प्रारूप-अंतिमीकरण अवस्था : 29 अगस्त, 1947 से 26 नवंबर, 1949।

ध्यातव्य है कि प्रथम अवस्था में डॉ. अंबेडकर की कोई भूमिका नहीं थी और यदि थी तो वह नकारात्मक। इस अवस्था में कांग्रेस का प्रयास जोरों से चल रहा था कि स्वतंत्र भारत के लिए संविधान सभा द्वारा संविधान निर्माण का कार्य हो। ब्रिटिश सरकार द्वारा गठित क्रिप्स मिशन तथा केबिनेट मिशन ने भी संविधान सभा की संस्तुति की थी। किंतु डॉ. अंबेडकर इसके विरोधी थे। उनका कहना था कि संविधान सभा की कोई आवश्यकता नहीं है। उनके अनुसार भारत सरकार अधिनियम 1935 में ही किंचित सुधार कर संविधान तैयार किया जा सकता है।

तथापि उनका यह विरोध दृष्टिकोण का था। स्वतंत्र भारत का एक संविधान हो तथा वह भारतीयों द्वारा ही निर्मित हो इसमें उनकी सहमति थी। अंतः संविधान सभा की स्थापना होने पर वे भी इसमें सदस्य के रूप में सम्मिलित हुए। परंतु सभा में कांग्रेस का प्राबल्य होने के कारण इनकी महत्वपूर्ण भूमिका की कोई गुंजाइश नहीं थी। क्योंकि वे कांग्रेस के घोर विरोधी थे तथापि अपनी प्रतिभा और कर्त्तव्यनिष्ठा के कारण उन्होंने सभा में अपना स्थान बना लिया। नेहरू के उद्देश्य प्रस्ताव पर अपने ओजस्वी भाषण से इन्होंने अपने विरोधी कांग्रेस सदस्यों का दिल जीत लिया और बंगाल विभाजन के बाद सभा की सदस्यता समाप्त होने पर कांग्रेस के समर्थन से ये बंबई से निर्वाचित हुए। ये सभा द्वारा गठित कई समितियों के सदस्य बने तथा सबसे महत्वपूर्ण बात यह हुई कि ये प्रारूप समिति के सदस्य ही नहीं उसके अध्यक्ष भी नियुक्त हो गये। प्रारूप समिति की अध्यक्षता के कारण संविधान को अंतिम रूप देने का कार्य इन्होंने बड़े परिश्रम एवं दक्षता से किया। इसको सभी ने स्वीकार किया है।

परंतु इस संदर्भ में यह भी ध्यातव्य है कि प्रारूप समिति को संविधान निर्माण की स्वतंत्रता नहीं थी। उसके मौलिक सिद्धांतों का निरूपण सभा द्वारा ही हो चुका था तथा एक प्रारूप भी संविधान सलाहकार सर बी. एन. राव द्वारा प्रस्तुत किया गया था। प्रारूप समिति को उसी दायरे में संविधान बनाना था। प्रारूप समिति की मर्यादाओं को स्वयं डॉ. अंबेडकर ने स्वीकार किया है। फिर भी यह कार्य महान दायित्व एवं परिश्रम का था जिसे उन्होंने सराहनीय तरीके से संपादित किया।

इसके अतिरिक्त संविधान के प्रारूप पर सभा में चर्चा का मार्गदर्शन भी विधि मंत्री एवं प्रारूप समिति के अध्यक्ष होने के कारण डॉ. अंबेडकर को ही करना पड़ा। सदस्यों द्वारा उठाई गई आपत्तियों का निवारण, आलोचनाओं का प्रत्युत्तर, संशोधनों पर सम्यक विचारोपरांत उन्हें तथा अन्य मान्य सुझावों को संविधान के प्रारूप में सम्मिलित कर उसे अंतिम रूप देना आसान नहीं था। प्रारूप के प्रावधानों का सभा में स्पष्टीकरण, व्याख्या एवं अनुरक्षण का कार्य भी डॉ. अंबेडकर के कंधों पर था। ऐसा करने में उनकी जो ख्याति और प्रतिष्ठा बढ़ी, उसी का फल है कि आज भी जब कभी संविधान के किसी प्रावधान पर न्यायालय में प्रश्न खड़ा होता है तो डॉ. अंबेडकर के स्पष्टीकरण के आधार पर ही उसका निराकरण होता है।

संदर्भ सूची

1. के. एम. मुंशी, पिलग्रिमेज टू फ्रीडम (मुंबई) पृ. 104।
2. शेषराव चौहान, दि मेकर्स ऑफ दि इंडियन कांस्टीट्यशन, मिथ एंड रियेलिटी, (मुंबई, 2000) में उद्धृत।
3. वही।
4. वही।
5. जी. एन. सिंह, भारत का संवैधानिक इतिहास।
6. वही।
7. बी. एन. राव, इंडियन कांस्टीट्यशन इन दि मेकिंग (नई दिल्ली 1960), पृ. 477-80।

3

गांधीजी के आर्थिक विचारों की प्रासंगिकता

*—डॉ. राधामोहन श्रीवास्तव**

सर्वविदित ही है कि गांधी जी मूलतः अर्थशास्त्री नहीं थे। कदाचित् इसी कारण अर्थव्यवस्था के विकास के संदर्भ में परंपरागत अर्थशास्त्रियों की भांति अर्थशास्त्र के सिद्धातों एवं नियमों के प्रतिपादन में उनकी कोई अभिरूचि नहीं रही। परन्तु सामाजिक-आर्थिक विषयों के बारे में उन्होनें जब-तब जो विचार अभिव्यक्त किए, वही भारतीय अर्थव्यवस्था के विकास के संदर्भ में उनके आर्थिक-दर्शन के मार्गदर्शक सिद्धांत अथवा अर्थशास्त्रीय आचार-संहिता बन गए। अतएव, इसमें संदेह नहीं कि गांधी जी ने न तो किसी आर्थिक सिद्धांत को प्रस्तुत किया और न ही उनके विचार अर्थशास्त्र के किसी सिद्धांत पर आधारित हैं। फिर भी उनका मौलिक आर्थिक चिंतन आज तक प्रासंगिक हैं, और आगे भी उसकी प्रासंगिकता बनी रहेगी।

वास्तव में, सन् 1947 ई0 में जब भारत का नवोदय हुआ तो भारत विविध विषम सामाजिक-आर्थिक कठिनाइयों से अत्यधिक ग्रस्त था। ऐसे दुष्काल तथा संक्रमणकाल में गांधी जी द्वारा व्यक्त किए गए सुधारात्मक आर्थिक विचार ही उनके अर्थ-शास्त्रीय चिंतन को स्पष्ट करते हैं।

2 अक्टूबर, 1869 ई. को गुजरात के पोरबंदर (सुदामापुरी) नामक स्थान पर एक वणिक घराने में जन्मे मोहनदास कर्मचंद गांधी। पिता कर्मचंद गांधी बड़े ही निस्पृह एवं सदाचारी व्यक्ति थे और इसी रुप में आसपास के क्षेत्रों में प्रख्यात् थे। माता पुतलीबाई बड़ी ही धार्मिक एवं सात्विक प्रकृति की महिला थी। मोहनदास कम आयु के थे तभी कस्तूरबा से उनका विवाह हो गया था। जब मैट्रिक पास करके वह इंग्लैड में बेरिस्टरी की शिक्षा के लिए प्रस्थान करने चले तो उनकी मां ने उनसे तीन प्रतिज्ञाएं करा लीं- किसी भी स्त्री से दूर रहना, मदिरा का सेवन मत करना और मांस कभी मत खाना। इंग्लैड प्रवास काल में उन्हें मां द्वारा निर्दिष्ट सात्विक जीवन व्यतीत करने में बेहद कठिनाई हुई। किंतु संयमित और संकल्पवान मां द्वारा लिए गए वचनों ने उनके जीवन को अत्यंत सामान्य और सात्विक बना दिया था। विलायत में बेरिस्टरी की शिक्षा प्राप्त करने के साथ-साथ उन्होंने गीता तथा बाइबिल आदि महान् धर्मग्रंथों का भी गहन अध्ययन कर लिया था। उनमें परदुःखकातरता तथा आत्मोत्सर्ग की भावना पैठी हुई थी। वह पीड़ित मानवता के उद्धार के लिए आजीवन सतत् संघर्षशील रहे। इनकी स्वानुभूति के प्रति गहरी आस्था थी। उनके व्यक्तित्व से शुद्धाचरण, आदर्श तथा सादा जीवन उच्च विचार-व्यवहार का सामंजस्य झलकता था। वृद्धावस्था में गांधी जी मात्र एक मीटर की हाथ से बनी खादी की लंगोटी, मामूली छड़ी, चश्मा, कमर में घड़ी और अत्यंत सस्ती चप्पल धारण करते थे। निहायत संयमित आहार-विहार और मामूली वेशभूषा में उन्हें देखकर सहज ही ऐसा प्रतीत होता था कि वह सादा जीवन और अपरिग्रह को सचमुच एक मूर्त रूप, एक जीवंत रूप दे रहे हैं। बाह्य विडंबनाओं से असंतोष, मानव समाज की पूर्ण एकता और विश्व कल्याण की भावना ने इन्हें राष्ट्रपिता बापू से लेकर विश्ववंदय बापू तथा शांति का अग्रदूत तक बना दिया। निश्चय ही, गांधी जी एक ऐसे युग दृष्टा-युगांतकारी पुरुष थे, जिनके संकेत पर इतिहास अपना रूप बदलता हैं।

कदाचित ये ही वे कारण हैं कि आज गांधी जी जैसे युग-पुरुष का आर्थिक चिंतन दुनिया की विभिन्न आर्थिक विचारधाराओं से सर्वथा भिन्न, एक विशिष्ट पहचान बनाए हुए हैं। आज भारत ही नहीं अपितु दुनिया के प्रायः समस्त

* उपाचार्य, कृषि अर्थशास्त्र विभाग, नेशनल पी.जी. कॉलेज,बड़हलगंज, गोरखपुर

अविकसित, अल्पविकसित एवं विकासशील देशों के लिए गांधी जी का आर्थिक-दर्शन एक कल्याणकारी सार्वभौमिक चिंतन का स्वरूप ग्रहण कर चुका है। आज दुनियाभर के शिखर अर्थशास्त्री भी इस सत्य को स्वीकार करने लगे हैं कि गांधी जी की सर्वोदयी, अहिंसावादी तथा अपरिग्रही आर्थिक विचारधारा को मूलाधार मानकर ही देश-विदेश में फैली प्रत्येक समस्या का स्थायी समाधान ढूंढ़ा जा सकता हैं।

हम अध्ययन की सुविधा के लिए गांधी जी की आर्थिक विचारधारा को कुल मिलाकर आठ भागों में विभक्त कर सकते हैं:-

1. **सर्वोदयी विचारधारा**- अपनी सर्वोदय संबंधी विचारधारा में गांधी जी ने सर्वोदय का आशय व्यक्ति, समाज और संपूर्ण राष्ट्र के विकास से लिया है। उन्होंने सामाजिक समरसता की स्थापना के लिए ही सर्वोदय एवं अंत्योदय की परिकल्पनाए प्रस्तुत कीं। सर्वोदय अर्थात् " सबका उदय" एंव अंत्योदय अर्थात् "जो गिरा हुआ है, सर्वप्रथम उनका उदय। गांधी जी इस मूल समतावादी विचार का प्रतिपादन करते हैं। साथ ही, वह सभी के लिए सामाजिक न्याय एवं अवसर की समानता के पक्षधर थे। वह आर्थिक समानता एवं सामाजिक सद्भाव का ऐसा वातावरण बनाने के पक्ष में थे, जिसमें सभी एक.दूसरे के सहयोगी के रूप में कार्य करें। यही उनके सर्वोदय का मार्ग था।
2. **ट्रस्टीशिप की विचारधारा**– यधपि गांधीजी रस्किन, टालस्टाय जैसे पाश्चात्य विद्वानों के सामाजिक-आर्थिक विचारों से प्रभावित थे, किंतु भारत जैसे देश में फैली सामाजिक-आर्थिक विषमता से पूर्णतः अवगत होने के कारण उनका आर्थिक चिंतन पूर्णतया मौलिक एवं भारतीय अर्थव्यवस्था के परिप्रेक्ष्य में है। उनका कहना है कि संपत्ति के अधिकार के कारण ही असमान वर्गों का प्रादुर्भाव हुआ है, जो अंततोगत्वा शोषण को जन्म देकर बढ़ावा देने में सहायक हो रहा है। धनिकों के पास यदि अत्यधिक धन हो जाता हैं तो वह उसे समाज की धरोहर मानें और उस अतिरिक्त धन का वे ट्रस्टी की भांति समाज हित में प्रयोग करें। यही गांधी जी की ट्रस्टीशिप संबंधी अवधारणा है। संभवतः भारतीय अर्थव्यवस्था के विकास के संदर्भ में आर्थिक समानता लाने का गांधी जी का यही अहिंसक उपाय सर्वश्रेष्ठ भी है।
3. **आर्थिक विकेंद्रीकरणः कुटीर एवं लघु उद्योग**- आर्थिक विकेंद्रीकरण और कुटीर एवं लघु उद्योगों के बारे में गांधी जी का सुझाव है कि "यदि भारत को अहिंसा के आधार पर अपना नवनिर्माण करना है तो कई क्षेत्रों में विक्रेंद्रीकरण का मार्ग अपनाना होगा। जैसी कि मेरी धारणा है- "ग्रामीण अर्थव्यवस्था में शोषण के लिए कोई स्थान नहीं है और शोषण हिंसा का प्रतिरूप है।"

उनके इस कथन से स्पष्ट है कि गांधी जहां केंद्रीकृत अर्थव्यवस्था के विरोधी थे, वहीं वह पंचायतीराज एवं आदर्श ग्राम रचना के लिए कुटीर एवं लघु उद्योगों के विकास के प्रबल समर्थक भी थे। उनका विचार था कि उत्पादन को छोटे-छोटे पैमानों पर अनेक स्थानों पर चालू किया जाए अर्थात् घरों में छोटे-छोटे पैमानों पर अनेक स्थानों पर चालू किया जाए अर्थात् घरों में छोटे-छोटे कुटीर उद्यम को स्थापित किया जाए। उनका मानना था कि स्वतंत्र भारत कराहती दुनिया के प्रति अपनी जिम्मेदारी सादे और उदात्त जीवन के आदर्श को अपना कर ही निभा सकता हे। इसके लिए उसे अपने हजारों कुटीर उद्योगों का विकास करना होगा और दुनिया के साथ शांति-पूर्वक रहना सीखना होगा। लक्ष्मी की पूजा ने हमारी जिंदगी को भाग-दौड़ और जटिलताओं से भर दिया है, और यह उच्च विचार के आदर्शों से मेल नहीं खाती।

जब गांधी जी ने चरखा अपनाने का आह्वान किया तो उन्होंने यह नहीं मान लिया था कि इस जादुई छड़ी के स्पर्श से ही भारत में गरीबी रातों-रात दूर हो जायूगी। उन्होंने यह भी नहीं सोचा था कि चरखा काटने वालों की तमाम आर्थिक आवश्यकताएं पूरी हो जाएँगी। निश्चय ही, चरखे का आर्थिक महत्व है, लेकिन इसकी असली खूबी राष्ट्रीय चरित्र के निर्माण और व्यक्ति में बदलाव लाने की इसकी क्षमता में निहित हैं। गांधी जी का यह विश्वास था कि चरखा हमारी राष्ट्रीय दृष्टि

लौटाएगा, जो कि इस वक्त कई कारणों से लुप्त हो गई है। इस सबसे गांधी जी को आशा थी कि यह आडंबर से रहित सादगी और ईमानदारी वाले जीवन के संदेश को फिर से प्रसारित करेगा।

4. **श्रम की प्रधानता-** गांधी जी के आर्थिक विचारों की एक सर्वोपरि विशेषता यह रही है कि वे प्रत्येक समस्या का समाधान सदैव भारतीय परिप्रेक्ष्य में ही खोजा करते थे। यही कारण था कि वे भारत जैसी श्रम बाहुल्य अर्थव्यवस्था में श्रम-प्रधान उद्योगों के बदले पूँजी-प्रधान बृहद् उद्योगों के विकास का विरोध करते थे। उन्होंने सदैव पूँजी-प्रधान तकनीक के बदले श्रम-प्रधान तकनीक के विकास और प्रचार-प्रसार का प्रबल पक्ष लिया।

अपनी श्रम निवेश संबंधी अवधारणा के तहत गाँधी जी श्रम को पूजा मानते थे। उनकी दृष्टि में प्रत्येक व्यक्ति को स्वयं के परिश्रम द्वारा ईमानदारी से जीविकोपार्जन हेतु प्रयासरत रहना चाहिए। वह पूँजी पर आधारित निर्भरता को समाप्तकर पूँजी-निवेश के बदले श्रम-निवेश को श्रेयस्कर मानते थे। उनका कहना था कि इससे एक तो समाज में समानता आएगी और दूसरे वर्ग-संघर्ष, वर्ग-भेद एवं भुखमरी को दूर करने में सहायता भी मिलेगी।

गांधी जी ने देश के संपन्न एवं आत्मनिर्भर बनाने के लिए अपनी आर्थिक नीति को ऐसा आधार प्रदान किया है कि प्रत्येक उपभोक्ता उत्पादक हो और ग्रामोद्योग उसका माध्यम बने।

5. **ग्राम-केंद्रित अर्थनीति-** गांधीजी के आर्थिक चिंतन में गांव भारत के यथार्थ का प्रतीक हैं। इसीलिए उन्होंने गाँवों को राष्ट्रीय पुरूषार्थ का प्रारंभिक बिंदु माना। गांवों को वह भारत की आत्मा मानते थे। यही कारण है कि गाँधी जी एक ग्राम-केंद्रित समन्वित राष्ट्रीय अर्थनीति के समर्थक के रूप में हमारे समक्ष आते हैं। गाँधी जी ने देश में एक साथ पं0 नेहरू की दो अर्थनीतियों- ग्रामीण अर्थनीति एवं नगरीय अर्थनीति के संचालन का तीखा विरोध किया। निष्कर्ष के तौर पर यह कहना अतिशयेक्तिपूर्ण नहीं कि आज पं. नेहरू के "विदेशी मॉडल" को लागू करके विपन्न-ग्रामीण भारत के बदले संपन्न नगरीय भारत को प्राथमिकता देने का ही परिणाम है कि हमारा राष्ट्र इने-गिने नवशोषक वर्ग के शिकंजे में पड़ गया है। उत्पादकों पर अनुत्पादक हावी हो चुके है, वहीं गाँवों की उपेक्षा के कारण उजड़ते गाँव और बढ़ते शहर देश के लिए दोहरा अभिशाप सिदध हो रहे हैं।

6. **न्याय व समानता पर आधारित हो संपत्ति का वितरण-** आय और संपत्ति के वितरण के बारे में गाँधी जी सामाजिक न्याय एवं समानता के सिद्धात के पक्षधर थे। उनके विचारनुसारः "प्रत्येक व्यक्ति को राष्ट्र के प्रत्येक साधन का उसकी आवश्यकतानुसार भाग प्राप्त होना चाहिए, नकि प्रत्येक व्यक्ति को राष्ट्रीय आय में समान भाग।" वह इसी समानता के आधार पर चाहते थे कि मनुष्य केवल उतनी ही संपत्ति लेने का अधिकारी है जितना कि उसका पेट भरने के लिए पर्याप्त हो; जो इससे अधिक लेता है वह राष्ट्रप्रेमी नहीं, वह चोर है। गाँधीजी ने लिखा है: "मैं एक ऐसे भारत के निर्माण के लिए कार्य करूंगा जिसमें गरीब से गरीब व्यक्ति भी महसूस करेगा कि यह देश उसका अपना देश है और इसे बनाने में उसकी आवाज भी मायने रखती है। एक ऐसा देश जिसमें कोई ऊँचा-नीचा वर्ग नहीं होगा। एक ऐसा देश जिसमें सभी समुदायों के लोग सद्भाव में रहेंगे। महिलाओं को भी वही अधिकार प्राप्त होगा जो पुरुषों को प्राप्त है।"

7. **पूँजीवाद है समाजवाद का शत्रु-** गाँधीजी समाजवाद को आर्थिक पुननिर्माण का केवल सिद्धांत भर नहीं मानते थे, अपितु, वह उसे सृजनात्मक जीवन दर्शन की एक माँग भी समझते थे। उनका समाजवाद वर्ग सहयोग एवं वर्ग सामंजस्य की अवधारणा पर आधारित है। गाँधी जी का चिंतन है कि "समाज की पूरी संपत्ति सारे समाज के सम्मिलित प्रयासों का फल है। अतः उस पर सभी व्यक्तियों का समान अधिकार होना चाहिए।" यही कारण है कि वह पूँजीवाद को सामाजिक न्याय का शत्रु मानते थे। उनके समाजवाद का आधार "सबके लिए सामाजिक न्याय" और सबके लिए "अवसर की समानता" का सिद्धांत है।

8. **पर्यावरण की रक्षा-** जब हम गाँधी जी की आर्थिक एवं पर्यावरण संबंधी अवधारणा की मीमांसा करते हैं तो पाते हैं कि गांधी जी द्वारा प्रस्तुत आर्थिक मॉडल के अंतर्गत प्रगति की निरंतरता को बनाएं रखने के लिए विकास एंव प्रगाति के बीच एक सकारात्मक समझौतावादी दर्शन उजागर होता है। उनका कहना है कि मानव जाति को विकास योजनाओं का अर्थपूर्ण लाभ तभी प्राप्त हो सकता है जब इन योजनाओं का पर्यावरण पर प्रतिकूल प्रभाव न पड़े। अर्थात् पर्यावरण की सुरक्षा के साथ सामंजस्य स्थापित करके विकास योजनाएं चलाई जाएँ।

गांधीवादी योजना को संकलित करके उसे प्रकाशित कराया है भारतीय अर्थशास्त्री श्री एस.एन. अग्रवाल ने। गाँधी जी ने गाँधी जी ने "हरिजन और उसके पूर्व 'स्वराज' में आर्थिक मुददों पर जो कुछ लिखा उसी के सार-तत्व को "गाँधीवादी योजना" का नाम दिया गया। गाँधीवादी योजना के 8 सूत्रीय उद्देश्य इस प्रकार हैं:

1. सभी लोगों के लिए 3600 कैलोरी ऊर्जा प्रदान करने वाला संतुलित आहार, प्रति वर्ष 20 गज कपड़ा, प्रति व्यक्ति 100 वर्ग फुट आवासीय सुविधा, निः शुल्क और अनिवार्य शिक्षा, उचित चिकित्सकीय सहायता, जनता के उपयोग और मनोरंजन की सुविधा;
2. प्रति व्यक्ति आय में चौगुनी वृद्धि;
3. अधिक रोजगार के अवसरों का प्रावधान;
4. 3500 करोड़ रुपए का दस वर्षों में संपूर्ण निवेश;
5. ग्रामीण क्षेत्रों का कल्याण;
6. स्वशासित एवं स्वावलंबी ग्रामीण समुदाय या ग्राम पंचायतें;
7. सामूहिक और सहकारी खेती पर बल देते हुए कृषि उत्पादकता में वृद्धि;
8. नियोजन वित्त संसाधन की प्राप्ति आंतरिक उधार से 2000 करोड़ रुपए, 1000 करोड़ रुपए निर्मित मुद्रा से और कराधान से 500 करोड़ रुपए।

निस्संदेह, गाँधीवादी योजना एक आदर्शवादी योजना थी और यथार्थ रूप में यह कागजी योजना बन कर रह गई थी।

हमारे विचार से, गाँधी जी कोई स्वप्नदृष्टा और कल्पनालोक में जीने वाले शांतिकामी महापुरुष नहीं थे, जिनकी नसीहतों पर अमल करना व्यावहारिक नहीं हैं। ऐसे पूर्वाग्रहहीन और दूरदर्शी लोग भी काफी बड़ी संख्या में हैं, जो यह मानते हैं कि वह बहुत ही व्यावहारिक व्यक्ति थे। स्वयं गाँधी जी की अपने बारे में राय थी कि वह व्यावहारिक आदर्शवादी है। दक्षिण अफ्रीका में 21 वर्ष तक और उसके बाद भारत में 32 वर्ष तक उन्होंने जो कुछ कहा उस पर अमल भी किया। उनकी कथनी और करनी में पूरा तालमेल था।

पिछले 55 सालों में कुछ छिट-पुट उपायों को छोड़कर गाँवों की जिस तरह उपेक्षा हुई हैं, उसे देखते हुए विकास गातिवधियों से जुड़े तमाम लोगों के लिए गाँवों की और अविलंब ध्यान देना आवश्यक हो गया है। निचले स्तर से योजनाएँ बनाने, लोगों को सत्ता के हस्तांतरण और स्थानीय आवश्यकताओं पर आधारित विकास की प्रक्रिया में आम आदमी की भागीदारी और उपायों से न केवल गाँव की जरुरतों का बल्कि स्थिति की वास्तविकताओं का भी निश्चित रूप से ख्याल रखा जा सकेगा। निचले स्तर से विकास के गांधी जी के स्वप्न से समाज को आर्थिक सहारा तो मिलेगा ही, लोगों को आत्मिक शाक्ति भी प्राप्त होगी।

गाँधी जी द्वारा भारतीय अर्थव्यवस्था के तीव्रतर विकास के संदर्भ में 20 जीं सदी के लगभग मध्य में व्यक्त किए गए उपर्युक्त आर्थिक विचार निस्संदेह आज भी भारतीय अर्थव्यवस्था के स्वतः स्पूर्त विकास के लिए बहुत हद तक प्रासंगिक हैं। अपनी "एशियन ड्रामा" नामक सुप्रसिद्ध पुस्तक में नोबेल पुरस्कार विजेता अर्थशास्त्री प्रो0 गुन्नार मिरडल का यह कथन महत्वपूर्ण हैं- गांधीवाद केवल नैतिक आग्रह ही नहीं है बल्कि एक अर्थशास्त्र और समाजशास्त्र है, जिसमें एक और तो आज के आर्थिक जीवन की अनंत समस्याओं तथा सामाजिक जीवन में व्याप्त अनेक जटिलताओं का सम्यक् सन्निहित है, तो दूसरी और सुखद मानवीय भविष्य के लिए स्वतः स्पूर्त क्रांति की दिशा दृष्टि।"

गाँधी जी एक बुनिवादी आर्थिक-सामाजिक विचारक ही नहीं थे, प्रत्युत, एक तपस्वी पत्रकार भी थे। "यंग इंडिया", "नवजीवन" और "हरिजन" का उन्होंने भारत में कुशलतापूर्वक संपादन किया। इन प्रकाशनों के पूर्व से "इंडियन ओपिनियन" नामक पत्र का संपादन अफ्रीका में कर चुके थे।

सन् 1945 ई. में गांधी जी की सहधर्मिणी कस्तूरबा गाँधी का अहमदनगर कारागार में बलिदान हो गया था। 30 जनवरी, 1948 ई. को दिल्ली के "बिड़ला भवन" में जब गांधी जी सांध्यकालीन सार्वजनिक प्रार्थना सभा में प्रवचन कर रहे थे, तभी नाथूराम गोडसे नामक व्यक्ति ने पिस्तौल की गोलियों से उनकी निर्मम हत्या कर दी। यूँ तो अनेक राष्ट्राध्यक्षों, विद्वानों और संयुक्त राष्ट्रसंघ ने उन्हें अपनी श्रद्धांजलि प्रकट की किंतु लार्ड माउंटबेटन की दो-टूक श्रद्धांजलि अत्यंत मर्मस्पर्शी एवं हृदयग्राही थी। जो गाँधी जी को विश्व-पुरुष की महिमा-गरिमा से मंडित करती है, "सारा उनके जीवित रहने से संपन्न था, और, उनके निर्धन से वह दरिद्र हो गया है।"

सचमुच, मोहनदास कर्मचंद गांधी उस अर्थशास्त्री-परंपरा में हमेशा याद किए जाएँगे, जिसमें शब्दों के बदले यदि जीवन परहित में बोलना आरंभ कर दे तो उसे श्रेष्ठ माना जाता हैं।

◆

4

त्रिशंकु लोकसभा एवं खंडित जनादेश की स्थिति में राष्ट्रपति की भूमिका

*—डॉ. श्रीमती आनंद माथुर**

स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् भारत ने भी ब्रिटेन की भांति संसदीय शासन प्रणाली को अपनाया। राष्ट्रपति को राज्याध्यक्ष बनाया गया और पद की प्रतिष्ठा के अनुरूप उन्हें अलंकारिक शक्तियाँ प्रदान की गई। संविधान के अनुच्छेद 53 के अनुसार राष्ट्रपति को कार्यपालिका का मुखिया बनाया गया और अनुच्छेद 74(1) द्वारा उनकी सहायता और सलाह के लिये एक मंत्रीपरिषद् का उल्लेख किया गया जिसका मुखिया प्रधानमंत्री होगा। अनुच्छेद 75 (1) के अनुसार राष्ट्रपति संसद के निम्न सदन अर्थात् लोकसभा में बहुमत दल के नेता को प्रधानमंत्री नियुक्त करेगा। ब्रिटेन की भांति भारत में भी यह परंपरा पर छोड़ दिया गया था कि व्यवहार में राष्ट्रपति मंत्रीपरिषद् की सलाह से ही कार्य करेगा और शासन का नाम मात्र का अध्यक्ष बना रहेगा। परन्तु 42 वें और 44 वें[2] संशोधन के पश्चात् राष्ट्रपति पर मंत्रीपरिषद् की सलाह के अनुसार ही कार्य करने की संवैधानिक बाध्यता स्थापित कर दी गई। संविधान में राष्ट्रपति को राज्यपाल के समान कोई स्वविवेकीय शक्तियां प्रदान नहीं की गई हैं।3 42 वें संविधान संशोधन के पूर्व उच्चतम न्यायालय ने राव बनाम भारत (1971) और समशेर बनाम पंजाब राज्य (1974) में कहा था कि कुछ विशिष्ट परिस्थितियों में राष्ट्रपति अपने विवेक से कार्य कर सकते हैं। यह प्रश्न कि इन संशोधनों के आदेशात्मक स्वरूप के उपरांत भी क्या वे विशिष्ट परिस्थितियां विद्यमान है जिसमें राष्ट्रपति मंत्रीपरिषद् की सलाह और सहायता से कार्य करने के लिये बाधित नहीं है। ऐसी विशिष्ट परिस्थितियां हैं – त्रिशंकु लोकसभा की स्थिति में जबकि कोई दल अथवा दलों का गठबंधन स्पष्ट बहुमत नहीं रखता हो तब प्रधानमंत्री का चयन और जब लोकसभा के समय पूर्व विघटित करने का निर्णय लेना हो।

आरंभिक तीन दशाब्दियों तक भारत का राजनैतिक परिदृश्य 'एक दलीय प्रधानता वाली बहुदलीय व्यवस्था' का रहा। अतः पांचवी लोकसभा तक कांग्रेस को स्पष्ट बहुमत मिलता रहा और राष्ट्रपति की भूमिका बहुमत दल के नेता को प्रधानमंत्री नियुक्त करने तक सीमित रही। छठी लोकसभा से राजनैतिक स्वरूप में परिवर्तन आया। छठी एवं नवीं लोकसभा में कांग्रेस विरोधी दलों की सरकारें बनीं। धीरे-धीरे कांग्रेस के वर्चस्व का ह्रास हुआ और क्षेत्रिय राजनैतिक दलों की संख्या कुकरमुत्ते की तरह बढ़ने लगी। फलतः ग्यारहवीं, बारहवीं एवं तेरहवीं लोकसभा में किसी भी दल को स्पष्ट बहुमत प्राप्त नहीं हुआ। त्रिशंकु लोकसभा एवं खंडित जनादेश की स्थिति 1996 के पश्चात् निरंतर बनी हुई है और आगे भी बने रहने की संभावना अभिव्यक्त की जा रही है। ऐसी स्थिति में राष्ट्रपति की सक्रिय भूमिका रहती है। खंडित जनादेश और अनिश्चितता की स्थिति में राष्ट्रपति की भूमिका वर्तमान राजनैतिक अनिश्चितता की स्थिति में राष्ट्रपति की भूमिका वर्तमान राजनैतिक परिदृश्य की सर्वाधिक विवादास्पद एवं विचारणीय समस्या है। ऐसी परिस्थितियों में अब तक राष्ट्रपतियों का व्यवहार किस प्रकार का रहा, उनकी भूमिका पर क्या विवाद उठा या संविधानविदों ने अवसर-विशेष पर राष्ट्रपति की भूमिका का किस आधार पर समर्थन अथवा विरोध किया। त्रिशंकु लोकसभा के अवसर पर राष्ट्रपति की भूमिका का तथ्यात्मक अध्ययन करने के पश्चात् ही उनके व्यवहार की समीक्षा की जा सकती है तथा भविष्य में ऐसे

*निदेशक, कमला नेहरू महिला महाविद्यालय, जयनारायण व्यास विश्वविद्यालय, जोधपुर (राज.)

अवसर पर उनकी भूमिका के विषय में सुझाव दिये जा सकते हैं।

छठी लोकसभा (मार्च, 1977 अगस्त 79) के समय राष्ट्रपति की भूमिका

जयप्रकाश नारायण के नेतृत्व में पांच पार्टियों के गठबंधन से एक नई पार्टी जनता पार्टी का गठन हुआ। तकनीकी दृष्टि से छठी लोकसभा त्रिशंकु नहीं थी क्योंकि जनता पार्टी को इसमें स्पष्ट बहुमत प्राप्त हुआ और इसके नेता मोरारजी देसाई को प्रधानमंत्री नियुक्त किया गया। परंतु जल्दी ही घटकवाद सिर उठाने लगा। इस गठबंधन के दो बड़े-नेता किसान नेता चौधरी चरणसिंह एवं हरिजन नेता जगजीवन राम-अपने आप को प्रधानमंत्री पद के अधिक उपयुक्त समझते थे। जनता पार्टी के इन तीनों नेताओं की आपसी प्रतिस्पर्धा एवं प्रतिद्वंद्विता के कारण जनता पार्टी का विघटन होने लगा। चौधरी चरण सिंह एवं राजनारायण ने मोरारजी सरकार को गिराने के प्रयास तेज कर दिये और राजनैतिक हित साधन के लिये इंदिरा गांधी और संजय गांधी से मिल गये। जब जुलाई, 1979 में जार्ज फर्नांडीस ने वाजपेयी, आडवाणी और संघ परिवार का साथ छोड़कर चरणसिंह का साथ दिया तो मोरारजी सरकार का पतन निश्चित हो गया। विरोधी दल के नेता यशवंतराव चव्हाण ने मोरारजी सरकार के विरूद्ध अविश्वास प्रस्ताव रखा और पारित करवाया परंतु सरकार बनाने में अपनी असमर्थता जाहिर की। तब राष्ट्रपति नीलम संजीवा रेड्डी ने चौधरी चरणसिंह को सरकार बनाने का न्यौता दिया और लोकसभा से विश्वास मत प्राप्त करने का निर्देश दिया। इससे पूर्व की चरणसिंह लोकसभा में विश्वास मत प्राप्त करते कांग्रेस ने अपना समर्थन वापस ले लिया। ऐसी स्थिति में राष्ट्रपति ने लोकसभा भंग कर चौधरी चरण सिंह को नयी लोकसभा गठित होने तक कामचलाऊँ सरकार चलाने का निर्देश दिया।

राष्ट्रपति के निर्णय पर देशव्यापी प्रतिक्रिया हुई। राष्ट्रपति की भूमिका के औचित्य एवं अनौचित्य पर देशं भर में राजनेताओं, कानून के विशेषज्ञों एवं संविधानविदों में बहस छिड़ गयी। अलग-अलग मत उभर कर सामने आये कुछ का कहना था कि चरण सिंह को सरकार बनाने का आमंत्रण देना उचित था तो कुछ का कहना था कि जिस आधार पर चौधरी चरण सिंह को आमंत्रित किया गया उसी आधार पर बाबू जगजीवन राम को क्यों नहीं आमंत्रित किया गया ? लोकसभा को भंग करने के निर्णय पर भी आपत्ति उठाई गई। यद्यपि अधिकतर राजनीतिज्ञों की ये आपत्तियां मध्यावधि चुनाव से बचने का संविधानेतर प्रयास था। चरण सिंह के लोकसभा भंग करने की सिफारिश पर आलोचकों का कहना था कि जो लोकसभा के साथ जीया ही नहीं उसे समाप्त करने की सिफारिश कैसे कर सकता है। संविधान के स्पष्ट उपबंधों के अभाव में राष्ट्रपति के व्यवहार पर तरह-तरह के प्रश्न उठे। परंतु के.सी. मरकंदन[4] ने अपनी पुस्तक "स्प्रीट आफ दी कॉन्स्टीटूयशन" में लिखा है। धारा 60 के अनुसार राष्ट्रपति संविधान के संरक्षण की शपथ लेते हैं जिससे कि संविधान राजनीतिज्ञों के हाथ का खिलौना नहीं बन जाये। संविधान यह अपेक्षा करता है कि राष्ट्रपति पूर्ण निष्पक्षता से व्यवहार कर संविधान को संरक्षित करेंगे। मोरारजी सरकार के पतन के पश्चात् विरोधी दल के नेता को आमंत्रित करना संसदीय सरकार की परंपराओं के अनुरुप था।

नौवीं लोकसभा और राष्ट्रपति आर वेंकटरमण (दिसंबर, 89 से मार्च 91)

राष्ट्रपति आर. वेंकटरमण को नौंवी लोकसभा के पूरे परिणाम आने के पूर्व ही यह आभास हो गया था कि किसी भी दल को स्पष्ट बहुमत नहीं मिल पायेगा। अपने राष्ट्रपति पद के कार्यकाल के संस्मरण "माई प्रेसीडेन्शियल ईयर्स"[5] में संकलित करते हुए उन्होंने लिखा है कि त्रिशंकु लोकसभा की स्थिति में प्रधानमंत्री का चुनाव उनके लिये अग्नि परीक्षा का समय था। स्वयं को "कॉपी बुक प्रेसिडेन्ट" कहने वाले राष्ट्रपति वेंकटरमण ने त्रिशंकु लोकसभा की स्थिति में अपने उत्तरदायित्व को उचित प्रकार से निभाने के लिये विभिन्न लेखकों की पुस्तकों का अध्ययन आरंभ कर दिया। आइवर जैनिंग्स, बैरीडेल कीथ, हूड फिलिप्स और हेल्सबरी के लॉ ऑफ इंगलैंड सभी का अध्ययन कर उन्होंने मानसिक तौर पर अपने आपको तैयार कर लिया। परिणामों से स्पष्ट हो गया कि कांग्रेस (ई) की पराजय हुई हैं तथापि 194 सदस्यों के साथ वह सबसे बड़ी पार्टी थी, जबकि राष्ट्रीय मोर्चे को 145, भाजपा, को 82 और वामपंथी मोर्चे को 55 सीटें मिली थी। संविधान विशेषज्ञ सोली जे. सोराबजी ने जैनिंग्स के विचारों

के आधार पर अपने एक लेख में लिखा कि ब्रिटेन में यह परंपरा है कि यदि शासक दल चुनाव में हार जाये तो विरोधी दलों को सरकार बनाने का मौका दिया जाना चाहिये परंतु इन विचारों की पुष्टि ब्रिटिश परंपरा से नहीं होती।

राष्ट्रपति वेंकटरमण ने अपनी दुविधा का उल्लेख करते हुए लिखा है कि "यदि मैं पहले सबसे बड़ी पार्टी कांग्रेस को आमंत्रित करता हूं तो मुझ पर दलीय होने का आरोप लगाया जायेगा और यदि नहीं बुलाता हूं तो मेरे विश्वास को ठेस पहुंचेगी कि मैंने प्रधानमंत्री चयन की सही प्रक्रिया नहीं अपनाई।[6] परंतु जल्दी जी राष्ट्रपति की यह दुविधा समाप्त हो गई जबकि राजीव गांधी ने यह निर्णय लिया कि जनादेश पक्ष में नहीं होने के कारण वह सरकार बनाने का दावा पेश नहीं करेंगे। इसके पश्चात् राष्ट्रीय मोर्चे को आमंत्रित किया गया। नेता पद के उम्मीदवार चंद्रशेखर भी हुए और इस प्रकार वी. पी. सिंह के राष्ट्रीय मोर्चे का निर्विरोध नेता चुने जाने पर प्रश्न चिह्न लग गया। इसी बीच अटल बिहारी वाजपेयी ने कांग्रेस समेत सभी दलों को मिला करके एक राष्ट्रीय सरकार के गठन का सुझाव दिया। परंतु यह सुझाव विचार विभिन्नता के कारण चल नहीं पाया अत्तोगत्वा देवीलाल का नाम राष्ट्रीय मोर्चे के नेता के लिये वी. पी. सिंह ने प्रस्तावित किया जिसका समर्थन चंद्रशेखर ने किया। पंरतु देवीलाल ने अपने स्थान पर वी. पी. सिंह का नाम प्रस्तुत कर दिया और चंद्रशेखर के विरोध के बावजूद वी. पी. सिंह नेता चुन लिये गये। राष्ट्रपति ने वी. पी. सिंह को सरकार बनाने का न्यौता दिया और साथ ही तीस दिन के भीतर लोकसभा से विश्वास पत प्राप्त करने का निर्देश दिया। कुछ लोगों ने इस निर्देश की औचित्यता पर सवाल उठाये कि संविधान में एक निर्धारित समय सीमा में विश्वास प्राप्त करने का कहीं उल्लेख नहीं है। इसके लिये कर्नाटक उच्च न्यायालय में एक याचिका भी लाई गई परंतु उच्च न्यायालय ने यह निर्णय करते हुए उस याचिका को खारिज कर दिया कि ऐसा निर्देश परंपराओं के अनुरुप है।

राष्ट्रीय मोर्चे और वामपंथी मोर्चे की संयुक्त सरकार बनी और भाजपा ने बाहर से समर्थन देने का निश्चय किया। यह साझा सरकार 'मंडल और मंदिर' की समस्या में बुरी तरह उलझी रही और जब बिहार सरकार ने 23 अक्टूबर, 1990 को आडवाणी की रथ यात्रा को रोक कर उन्हें गिरफ्तार कर लिया तो अटल बिहारी वाजपेयी के नेतृत्व में भाजपा के शिष्टमंडल ने राष्ट्रपति को वी. पी. सिंह सरकार से अपने समर्थन-वापसी का पत्र सौंप दिया। राष्ट्रपति ने वी.पी. सिंह को पद पर बने रहने दिया और निर्देश दिया कि वे लोकसभा में "उपस्थित एवं मतदान करने वाले सदस्यों" से विश्वास का मत प्राप्त करें। विस्तृत विचार विमर्श के पश्चात् विश्वास मत की तारीख 7 नवंबर तय की गई। राष्ट्रपति के निर्णय की उन लोगों ने आलोचना की जो सदन का बहुमत और सदन में बहुमत का अंतर समझ नहीं पाये। भाजपा का कहना था कि उनके जो सांसद 'कार-सेवा' के संदर्भ में गिरफ्तार हैं उन्हें रिहा किया जाये ताकि 7 नवंबर को वे मतदान में भाग ले सके।

राजनैतिक क्षेत्र में यह चर्चा जोरों पर थी कि राष्ट्रीय मोर्चे की सरकार विश्वास मत प्राप्त नहीं कर पायेगी। लोकसभा में दलीय स्थिति ऐसी नहीं थी कि कोई स्थायी सरकार बना पता। लोकसभा भंग कर अगर चुनाव का निर्णय लिया जाता तो सांप्रदायिकता से उत्प्रेरित चुनावी हिंसा का भय अभिव्यक्त किया जा रहा था।

इस समय राष्ट्रपति वेंकटरमण के समक्ष कई प्रश्न थे - क्या कोई वैकल्पित सरकार संभव है ? और क्या सदन का विश्वास खो चुके प्रधानमंत्री की सदन को भंग करने की सिफारिश मानने के लिये राष्ट्रपति बाध्य है ? ब्रिटिश विचारकों का मानना है कि निम्न परिस्थितियों में क्राउन सदन को भंग करने की सिफारिश को मानने के लिये बाध्य नहीं है :-

(1) जबकि संसद सक्रिय हो और स्थिति का मुकाबला करने के योग्य हो।

(2) जबकि इस सिफारिश को मानने से अर्थव्यवस्था को तीव्र आघात पहुँचने की संभावना हो और

(3) जब किसी स्थायी वैकल्पित सरकार की संभावना हो।[7]

इस समय राष्ट्रपति वेंकटरमण ने राष्ट्रीय सरकार के विचार को फिर प्रस्तुत किया। सर्वोच्च न्यायालय के पूर्व मुख्य न्यायाधीश, पी.एन. भगवती ने राष्ट्रीय सरकार के प्रस्ताव का स्वागत किया और इसे तत्कालीन परिस्थितियों में एकमात्र व्यावहारिक विकल्प बताया। जबकि भाजपा ने लोकसभा भंग करने की मांग की। टाइम्स आफ इंडिया को इसके जवाब में राष्ट्रपति वेंकटरमण ने कहा कि "राष्ट्रपति का पद एमरजेंसी लाइट के समान हैं। जब आवश्यकता होती है यह अपने आप जल जाती है और जब आवश्यकता समाप्त हो

जाती है तो यह अपने आप बुझ जाती है।[8]

7 नवंबर को लोकसभा में विश्वास मत के गिर जाने पर वी.पी.सिंह सरकार से त्याग पत्र दे दिया। राष्ट्रपति ने उन्हें और उनके सहयोगियों को नई सरकार बनने तक पद पर बने रहने को कहा।

8 नवंबर को राजीव गांधी ने स्वयं तो सरकार बनाने से इंकार किया। परन्तु चंद्रशेखर और उनके गुट को सरकार बनाने में कांग्रेस के पूर्ण सहयोग का आश्वासन दिया। राष्ट्रपति को राजीव गांधी ने बिना शर्त और लोकसभा की शेष अविधि तक चंद्रशेखर सरकार को समर्थन देने का आश्वासन दिया।

राष्ट्रपति वेंकटरमण ने दूसरी सबसे बड़ी पार्टी भाजपा को सरकार बनाने की संभावना पूछी जवाब में आडवाणी का कहना था कि उनकी राय में कोई भी दल स्थायी सरकार का गठन नहीं कर सकती है अतः नौवी लोकसभा का विघटन ही उचित रास्ता है। वामपंथी दलों ने आरंभ में लोकसभा को भंग करने का विरोध किया था, परंतु अब दलबदलुओं की सरकार के स्थान पर चुनाव का औचित्य स्वीकार करने लगे। 8 नवंबर की रात्रि तक सभी राजनैतिक दलों ने सरकार बनाने की जिम्मेदारी लेने से इंकार कर दिया। चंद्रशेखर ने कांग्रेस (इ) अन्नाद्रमुक तथा कुछ अन्य दलों की सहायता से सरकार बनाने का दावा पेश किया।

राष्ट्रपति वेंकटरमण ने अपने संस्मरण में लिखा है कि "मैं मानसिक रूप से लोकसभा भंग करने के पक्ष में नहीं था क्योंकि मंडल रिपोर्ट के विरूद्ध हुए आंदोलनों और मंदिर निर्माण की पृष्ठभूमि व्यापक हिंसा की आंशका थी और स्वतंत्र तथा निष्पक्ष चुनाव की संभावना भी क्षीण थी। वी.पी.सिंह ने भी त्याग पत्र देते हुए लोकसभा के विघटन की सिफारिश नहीं की थी। राष्ट्रपति अपनी इच्छा से लोकसभा का विघटन नहीं कर सकता। राष्ट्रपति वेंकटरमण के अनुसार यदि ऐसी शक्ति राष्ट्रपति को दे दी जाय तो वह लोकतंत्र का गला घोंट सकता है। परंतु एक पराजित प्रधानमंत्री की सिफारिश को मानने के लिये वह बाध्य है या नहीं एक मुख्य प्रश्न है।

चंद्रशेखर को राष्ट्रपति ने 10 नवंबर को प्रधानमंत्री पद की शपथ दिलवाई और 30 नवंबर, 1990 तक सदन से विश्वास मत प्राप्त करने का आदेश दिया।

चार महीने में ही इस अतिसूक्ष्म-मतीय सरकार का पतन हो गया। छोटे-बड़े सभी प्रश्नों पर शासक और शासन की शक्ति तक पहुंचाने वालों के बीच रस्साकस्सी शुरू हो गई अंत में जब कांग्रेस ने अपना समर्थन वापस ले लिया तो चंद्रशेखर सरकार ने अपना त्यागपत्र दे दिया और साथ ही लोकसभा के विघटन की सिफारिश की। राष्ट्रपति ने संविधान विशेषज्ञों ने निम्न प्रश्नों पर सलाह मांगी-

संविधान विशेषज्ञों की सामान्यतः मान्यता थी कि लोकसभा के विघटन की सिफारिश मानने के लिये राष्ट्रपति बाध्य नहीं है। राष्ट्रपति सुनिश्चित थे कि नौवीं लोकसभा में एक स्वस्थ साझा सरकार की संभावना नहीं थी। "बाध्यता से समर्थन" की तकनीक से उनका पूरी तरह मोह भंग हो चुका था और उन्होंने स्पष्टतः कह दिया कि सरकार में सम्मिलित हुए बिना केवल बाहर से समर्थन को वे स्वीकार नहीं करेंगे।

6 मार्च, 1991 को चंद्रशेखर सरकार ने इस्तीफा दिया। नये वित्तीय वर्ष के लिये खर्चे का प्रावधान आवश्यक था अतः नये चुनावों की घोषणा तुरंत नहीं की गई। संसद के दोनों सदनों द्वारा आवश्यक वित्त व्यवस्था करने के बाद राष्ट्रपति ने अनुच्छेद 85 (2)(6) के अंतर्गत लोकसभा को भंग करने का आदेश दिया। साथ ही राष्ट्रपति ने 5 जून, 1991 को या उससे पूर्व नयी लोकसभा के गठन का भी आदेश दिया।

राष्ट्रपति वेंकटरमण ने अपनी पुस्तक में लिखा है कि "मैंने लोकसभा के विघटन का निर्णय केवल पराजित प्रधानमंत्री की सिफारिश पर ही नहीं किया वरन् कुछ अन्य तत्वों, जैसे कोई भी अन्य दल सरकार बनाने के लिये आगे नहीं आया आदि के आधार पर किया। मैंने यह स्वस्थ परंपरा स्थापित की कि बजट एवं वित्तीय प्रावधान संसद के द्वारा हो, अध्यादेशों द्वारा नहीं। मैंने एक कई चीज की शुरूआत की जिसकी पृष्टि ब्रिटिश परंपराओं से भी होती है। वह है नयी लोकसभा के गठन की तिथि तय करना।"[9]

चंद्रशेखर को कार्यवाहक प्रधानमंत्री बनाया गया और स्पष्ट कर दिया गया कि कार्यवाहक सरकार केवल कामचलाऊ कार्य ही करे। किसी प्रकार का नीतिगत निर्णय, देश को किसी नये खर्चे के लिये प्रतिबद्ध करने, या विदेशी सरकारों या संस्थाओं से कोई गठबंधन करने और अन्य कोई महत्वपूर्ण नियुक्ति आदि न करने के स्पष्ट निर्देश दिये गये थे।[10]

परंतु चंद्रशेखर सरकार ने इन निर्देशों पर कोई ध्यान नहीं दिया। परिणामतः राष्ट्रपति भवन और सरकार के संबंध

तनावपूर्ण हो गये।चुनाव के दौरान ही राजीव गांधी की हत्या कर दी गई और दूसरे और तीसरे दौर के चुनाव स्थागित करने का निर्णय राष्ट्रपति भवन में लिया गया।इसी समय अफवाहें उठी की राष्ट्रीय सरकार का गठन किया जा रहा है क्योंकि नवीं लोकसभा भी त्रिशंकु ही बनेगी। इससे भी अधिक चिंताजनक ये अफवाह थी कि चुनाव दो साल के लिये स्थगित किये जा रहे हैं इस समय नयी संविधान सभा बनायी जायेगी जो सारे संविधान पर व्यापक विचार करेगी।[11] दसवी

लोकसभा भी त्रिशंकु ही थी, परंतु सबसे बड़ी पार्टी कांग्रेस ने जो कि बहुमत के काफी नजदीक थी, अकेले ही सरकार बनाने का निर्णय किया। नरसिम्हा राव ने जून, 1991 में विश्वास मत प्राप्त कर लिया और तीन वर्ष पश्चात् विरोधी दलों द्वारा प्रस्तुत अविश्वास प्रस्ताव के भी गिर जाने से राव सरकार अपना कार्यकाल पूरा पाई।

ग्यारहवीं लोकसभा विखंडित जनादेश एवं अस्थिर सरकारें : (मई, 1996 से दिसंबर, 97)

ग्यारहवीं लोकसभा पूर्णतः त्रिशंकु थी। जनता ने किसी भी दल को स्पष्ट जनादेश नहीं मिला था। सबसे बड़ी पार्टी भाजपा थी जिसको राष्ट्रपति ने सरकार बनाने के लिये आमंत्रित किया। भाजपा ने अटल बिहारी बाजपेयी को अपना नेता चुना। यह सरकार आवश्यक समर्थन नहीं जुटा पाई और शिवसेना, अकाली दल, हरियाणा विकास पार्टी को छोड़कर किसी ने सहयोग नहीं दिया। और विश्वास मत के समय मत विभाजन का इंतजार किये बिना ही वाजपेयी सरकार ने इस्तीफा दे दिया। ये सरकार केवल तेरह दिन चलीं।

वाजपेयी सरकार के पतन के पश्चात् संयुक्त मोर्चा नाम से 13 दलों का एक गठबंधन तैयार हुआ जिसने कर्नाटक के मुख्यमंत्री एच. डी. देवेगौड़ा को अपना नेता चुना। ये सरकार कांगेस के बाहरी समर्थन से बनाई गई थी। बिना कोई ठोस कारण बताये कांग्रेस के अध्यक्ष सीताराम केसरी ने राष्ट्रपति शंकरदयाल शर्मा को सूचित किया कि कांग्रेस देवगौड़ा सरकार से अपना समर्थन वापस ले रही है और शासन की बागडोर राष्ट्रपति किसी अन्य को सौपें। प्रारंभिक कठिनाईयों के बाद देवेगौड़ा सरकार कार्य करने ही लगी थी कि कांग्रेस ने अपना समर्थन वापिस ले लिया। 11 अप्रैल, 1997 को देवेगौड़ा सरकार का पतन हो गया। और एक बार फिर जो चरणसिंह और चंद्रशेखर के साथ हुआ वही देवेगौड़ा के साथ भी हुआ। वस्तुतः बाहर से समर्थन देने वाली पार्टियाँ शासन के उत्तरदायित्व को वहन किये बिना शासन चलाने वाली पार्टियों को अपने इशारे पर नचाना चाहती है। कभी संयुक्त सरकार में सम्मिलित सरकार को दल अपनी इच्छा से चलाना चाहते है और कभी बाहर से समर्थन देने वाली पार्टी अपना हाथ झटक देती है।

संयुक्त मोर्चा के घटक जिनकी संख्या अब बढ़कर 15 हो गई थी। प्रधानमंत्री का पद पाने के लिये तीव्र संघर्षशील हो गये। 'समन्वय समिति' में दलीय नेताओं और मुख्यमंत्रियों ने अगले प्रधानमंत्री के लिये कई नाम उछाले परंतु अंततोगत्वा इंद्रकुमार गुजराल को नेता चुना गया। देवेगौड़ा मंत्रिपरिषद् में गुजराल विदेशमंत्री थे, परन्तु उन्हें चुनने का कारण संभवतः यही था कि उनके पास अपना कोई जनाधार नहीं था। अप्रैल 27, 1997 को राष्ट्रपति शंकरदयाल शर्मा ने गुजराल को भारत के बारहवें प्रधानमंत्री के रूप में शपथ दिलवायी। मंत्रिपरिषद का स्वरूप की देवेगौड़ा मंत्रिपरिषद् जैसा ही था केवल तमिल मनीला कांग्रेस के लोगों को मंत्री नहीं बनाया गया क्योंकि वे अपने नेता मूपनार को प्रधानमंत्री बनाने के लिये दवाब डाल दे रहे थे। गुजराल ने पद ग्रहण करने के 24 घंटे के अंदर ही विश्वास मत हासिल कर लिया। गुजराल ने आम सहमति से काम करने का निश्चय किया और कांग्रेस अध्यक्ष से लगातार संपर्क बनाये रखा।

राष्ट्रपति नारायणन और प्रधानमंत्री गुजराल में भी अच्छे संबंध स्थापित हुए। परन्तु उत्तरप्रदेश में राष्ट्रपति शासन लागू करने के प्रश्न पर मतभेद उत्पन्न हो गये। उत्तप्रदेश में भाजपा और बहुजन समाज पार्टी की मिलीजुली सरकार थी। यह तय हुआ कि 6-6 महीने के लिये मायावती और कल्याणसिंह मुख्यमंत्री बनेंगे। मायावती पहले मुख्यमंत्री बनी और जब कल्याण सिंह मुख्यमंत्री बने तब बहुजन समाज पार्टी ने समर्थन वापस ले लिया। परन्तु राष्ट्रपति ने दूसरे ही दिन गुजराल को राष्ट्रपति भवन बुलाया और रोमेश भंडारी को अपदस्थ करने की संभावना पर विचार करने को कहा। राष्ट्रपति की सलाह को गंभीरता पूर्वक लेने के बजाय प्रधानमंत्री चार दिन के चुनावी दौरे पर चले गये। राज्यपाल भंडारी के आचरण को इलाहाबाद उच्च न्यायालय ने भी विधि सम्मत नहीं माना। ऐसी स्थिति में राष्ट्रपति ने राज्यपाल को

अपदस्थ कर दिया। प्रधानमंत्री गुजराल के समक्ष राज्यपाल को अपदस्थ करने के पर्याप्त कारण थे, परंतु अपने मंत्रिमंडलीय सहयोगियों के दवाब के कारण वे ऐसा नहीं कर पाये। यहां तक कि संयुक्त मोर्चा सरकार के घटक भारतीय मार्क्सिस्ट कम्युनिस्ट पार्टी ने राष्ट्रपति के व्यवहार की निंदा की।[12]

पदग्रहण करने के चार महीने पश्चात् ही राष्ट्रपति के. आर. नारायणन की क्षमता का परीक्षण हुआ जबकि कांग्रेस ने उत्तर प्रदेश में कल्याण सिंह सरकार को अपदस्थ करने के प्रश्न पर संयुक्त मोर्चा सरकार से समर्थन वापिस ले लिया और प्रधानमंत्री गुजराल को अपना पद त्याग करना पड़ा। अंत में यह विश्वास हो जपने पर कि बिना चुनाव के भारतीय जनता को इस राजतैतिक अस्थिरता से मुक्ति नहीं मिलेगी 4 दिसंबर, 1997 को चुनाव की घोषणा कर दी।

बारहवीं लोकसभा : पुनः त्रिशंकु (मार्च 98-अप्रैल 99)

मध्यावधि चुनाव की घोषणा के साथ ही यह आशंका जोर पकड़ने लगी कि इस बार भी किसी दल को स्पष्ट बहुमत नहीं मिलेगा। त्रिशंकु लोकसभा की स्थिति में राष्ट्रपति की संभावित भूमिका पर एक लंबी-चौड़ी बहस छिड़ गई।[13] चर्चा के विषय थे क्या राष्ट्रपति सबसे बड़ी पार्टी को बुलायेंगे या किसी चुनाव पूर्व या चुनाव पश्चात् गठबंधन को।

बारहवीं लोकसभा के चुनाव के नतीजे से स्पष्ट हो गया कि किसी दल को बहुमत नहीं मिला। भाजपा सबसे बड़ा दल बना। इस बार इसे समर्थन का अभाव नहीं रहा और अटल बिहारी वाजपेयी के नेतृत्व में मिली-जुली सरकार का गठन हुआ। इस सरकार ने 13 महीने तक शासन किया और मई 1998 को पोखरण में दूसरा परमाणु परीक्षण कर भारत को आणविक शक्ति संपन्न देश घोषित किया। इस सरकार के सहयोगी घटकों के मध्य निरंतर खींचतान चलती रही।

नवंबर 1998 के विधानसभाओं के चुनावों में राजस्थान, दिल्ली और मध्यप्रदेश में भाजपा सरकारों का पतन हो गया और इसे केंद्रीय सरकार के विरूद्ध जनादेश के रूप में देखा गया। गठबंधन सरकार के दूसरे सबसे बड़े घटक अन्नाद्रमुक ने एडमिरल विष्णु भागवत की बर्खास्तगी के प्रश्न पर संयुक्त संसदीय समिति द्वारा जाँच की मांग करते हुए 14 अप्रैल को वाजपेयी सरकार से अपना समर्थन वापस ले लिया। गठबंधन सरकार के निर्माण के समय अन्नाद्रमुक ने लिखित रूप में समर्थन दिया था। अब जब उसने समर्थन वापस ले लिया तो राष्ट्रपति नारायणन ने भाजपा नेतृत्व वाली गठंबधन सरकार को पुनः विश्वास मत प्राप्त करने का निर्देश दिया। 15 अप्रेल को वाजपेयी सरकार ने विश्वास मत रखा। 16 अप्रेल को बहस में भाग लेते हुए मायावती ने कहा कि बहुजन समाज पार्टी के पांचों सांसद मतदान के समय अनुपस्थित रहेंगे। 272 की चमत्कारिक संख्या तक पहुंचने के लिये गठबंधन सरकार प्रयत्नशील थी और वाजपेयी एंव उनके सहयोगी सुनिश्चित थे कि वे विश्वास मत प्राप्त करने में सफल रहेंगे। परंतु 17 अप्रैल को मतदान के दिन बहुजन समाज पार्टी अनुपस्थित रहने के अपने निर्णय से मुकर गई। इसी प्रकार नेशनल कांफ्रेस के एकमात्र प्रतिनिधि सैफूद्दीन सोज ने अपनी पार्टी के निर्णय के अनुसार विश्वास मत के समर्थन में मत देने का निर्णय किया था परन्तु बाद में कई कारणों से उन्होंने विश्वास मत के विरूद्ध मत दिया। इस प्रकार तेरह महीने पुरानी सरकार एक मत से गिर गई। कांग्रेस अध्यक्ष सोनिया गांधी ने 21 अप्रैल को कहा कि उनके पास वैकल्पिक सरकार बनाने के लिये आवश्यक समर्थन है परन्तु 23 अप्रैल, 1999 को वे केवल 233 सांसदों का ही समर्थन जुटा पाई और इस प्रकार किसी वैकल्पित सरकार का गठन नहीं हो पाया।

राष्ट्रपति की भूमिका पर फिर बहस छिड़ गयी। राष्ट्रपति नारायणन् ने पूर्व स्थापित परिपाटी के आधार पर नये सिरे से विश्वास मत प्राप्त करने का निर्देश दिया। ऐसी परिपाटी राष्ट्रपति वेंकटरमन ने 1990 में और राष्ट्रपति शंकर दयाल शर्मा ने 1997 में डाली। 1990 में जब भाजपा ने वी. पी.सिंह की राष्ट्रीय मोर्चा सरकार से सर्मथन वापस लिया उस समय संसद् का सत्र नहीं चल रहा था। 1997 में तो स्थिति और भी अस्पष्ट थी। संसद का अभी सत्रावसान हुआ ही था कि कांग्रेस अध्यक्ष, सीताराम केसरी ने बिना किसी ठोस कारण के देवेगौड़ा सरकार से सर्मथन वापस ले लिया था। इन अवसरों पर राष्ट्रपतियों ने सरकारों को निर्देश दिया कि जल्द से जल्द लोकसभा से विश्वास मत प्राप्त करे।[14] 14 अप्रैल को वाजपेयी सरकार से अपना समर्थन वापस ले लिया। गठंबधन सरकार के निर्माण के समय अन्नादुमक ने लिखित रूप में समर्थन दिया था अब जब उसने समर्थन वापस ले लिया तो राष्ट्रपति नारायणन् ने भाजपा नेतृत्व वाली गठबंधन सरकार

को पुनः विश्वास मत प्राप्त करने का निर्देश दिया। 15 अप्रैल को वाजपेयी सरकार ने विश्वास मत रखा। 16 अप्रैल को बहस में भाग लेते हुए मायावती ने कहा कि बहुजन समाज पार्टी के पाँचों सांसद मतदान के समय अनुपस्थित रहेंगे। 272 की चमत्कारिक संख्या तक पहुँचने के लिये गठबंधन सरकार प्रयत्नशील थी और वाजपेयी एवं उनके सहयोगी सुनिश्चित थे कि वे विश्वास मत प्राप्त करने में सफल रहेंगे। परंतु 17 अप्रैल को मतदान के दिन बहुजन समाजपार्टी अनुपस्थित रहने के अपने निर्णय से मुकर गई इसी प्रकार नेशनल कांग्रेस के एकमात्र प्रतिनिधि सैफूद्दीन सोज ने अपनी पार्टी के निर्णय के अनुसार विश्वास मत के समर्थन में मत देने का निर्णय किया था। परंतु बाद में कई कारणों से उन्होंने विश्वास मत के विरुद्ध मत दिया था। इस प्रकार ये तेरह महीने पुरानी सरकार एक मत से गिर गई। कांग्रेस अध्यक्ष सोनिया गाँधी ने 21 अप्रैल को कहा कि उनके पास वैकल्पिक सरकार बनाने के लिये आवश्यक समर्थन है परंतु 23 अप्रैल, 1999 को वे केवल 233 सांसद को ही सर्मथन जुटा पाई और इस प्रकार किसी वैकल्पित सरकार का गठन नहीं हो पाया।

राष्ट्रपति की भूमिका पर फिर बहस छिड़ गयी। यह कहा गया कि यदि राष्ट्रपति वाजपेयी सरकार को विश्वास मत प्राप्त करने का निर्देश नहीं देते तो सरकार नहीं गिरती। विरोधी दलों ने भी स्वीकार किया कि अगर अविश्वास प्रस्ताव लाया जाता तो सांसदों का मतदान-व्यवहार अलग प्रकार का होता।[15]

एक मत से पराजित वाजपेयी सरकार को कार्यवाहक सरकार के रूप में कार्य करने को कहा गया। इसी बीच कारगिल युद्ध छिड़ गया और तेरहवीं लोकसभा के लिये चुनाव स्थगित करना पड़ा। कारगिल मुद्दे पर लोकसभा की अनुपस्थिति में राज्यसभा में बहस की मांग विपक्ष ने की। इस मांग को टालने का प्रयास कार्यवाहक सरकार ने किया। इस संदर्भ में सुप्रीम कोर्ट के सेवानिवृत न्यायाधीश, वी.आर.कृष्णा अय्यर ने लिखा कि "केवल इसलिये पारदर्शिता और उत्तरदायी नीति अवकाश पर नहीं हो सकती, क्योंकि लोकसभा भंग हो चुकी है।"

कारगिल युद्ध के कारण एक और संवैधानिक विसंगति की स्थिति उत्पन्न हो गयी। संविधान में प्रावधान है कि लोकसभा के सत्रों में छः महीने से अधिक का अंतराल नहीं होना चाहिये। अगर नयी लोकसभा के गठन में छः महीने से अधिकाधिक समय व्यतीत हो जाता है तो संविधान का उल्लंघन हो जाता। यद्यपि ऐसी स्थिति उत्पन्न नहीं हुई और छः महीने पूर्व उसके पहले ही तेरहवीं लोकसभा का गठन हो गया।

तेरहवीं लोकसभा: (अक्टूबर 1999)

तेरहवीं लोकसभा में अटल बिहारी वाजपेयी के नेतृत्व में राष्ट्रीय जनतांत्रिक मोर्चे की संयुक्त सरकार बनी। ये 22 दलों की विभिन्न विचारधाराओं और हितों की सरकार है। इस सरकार ने एक फरवरी, 2000 को संविधान की समीक्षा के लिये भारत के भूतपूर्व मुख्य न्यायाधीश, एम.एन.वैंकटचलैया की अध्यक्षता में एक राष्ट्रीय आयोग का गठन किया, जिसका कार्य संविधान के उन प्रावधानों पर विचार करना है जो कि सरकार की स्थिरता से संबंधित है। धारा 75 (3) के अनुसार मंत्रिपरिषद् लोकसभा के प्रति सामूहिक रूप से उत्तरदायी हैं। परंतु दल बदल के विरूद्ध पर्याप्त सुरक्षा कवच दसवीं अनुसूची में नही दिये गये हैं। जिससे कि आकस्मिक दल बदल से सरकार के स्थायित्व को खतरा उत्पन्न हो जाता है और देश को महंगे मध्यावधि चुनावों का बोझ वहन करता पड़ता हैं।

त्रिशंकु लोकसभा की स्थिति में विभिन्न राष्ट्रपतियों के आचरण से यह स्पष्ट है कि अधिकतर अवसरों पर राष्ट्रपति का व्यवहार संविधान सम्मत था। पद की शपथ लेते हुए राष्ट्रपति संविधान के संरक्षक की जिम्मेदारी स्वीकार करते हैं। अपने अनुभव के आधार पर वे सरकार को चेतावनी और परामर्श दे सकते है, परंतु संविधान की सीमाओं के अंतर्गत वह सामान्यतः नाममात्र के अध्यक्ष ही बने रहते है अब चूंकि राजनैतिक स्थिति बहुदलीय हो गयी है किसी भी दल को पूर्ण बहुमत की संभावना कम ही है- ऐसी स्थिति में राष्ट्रपति की भूमिका निश्चित रूप से अत्यंत महत्वपूर्ण बन गयी है। वह ब्रिटिश राजा की भांति स्वर्णिम शून्य नहीं है। संविधान ने उसे एक अलग भूमिका प्रदान की है। सबसे बड़ी पार्टी के नेता को बुलाना भी बहुत यांत्रिक है और जैसा कि सर्वोच्च न्यायालय के अधिवक्ता आर.के. आनंद का मानना है कि ये दल बदल के लिये एक न्योता साबित होता है।

त्रिशंकु लोकसभा की स्थिति में राष्ट्रपति को सबसे बड़े

गठबंधन को ही बुलाना चाहिये। चाहे वह चुनाव पूर्व का हो या चुनाव पश्चात् का। क्योंकि मंत्रिपरिषद् को लोकसभा का विश्वास प्राप्त करना आवश्यक होता है। अतः नैतिकता अनैतिकता कि गठबंधन में शामिल दलों ने एक दूसरे के विरुद्ध चुनाव लड़ा है आदि प्रश्न संवैधानिक दृष्टि से महत्वपूर्ण नहीं है।

गठबधन का आधार आज विचारधारा के बजाए व्यावहारिक के आधार पर सहमति से शासन चलाना हो गया है। परन्तु घटक दलों के लिये अपनी विचारधारा को पूर्णतः छोड़ना संभव नहीं हो पाता है। अतः गठबंधन के सहयोगी दल चुनाव पूर्व ही नीतियां और कार्यक्रम तय कर ले तो शासन आसानी से चल सकता है।[16]

राष्ट्रपति अपनी इच्छा से लोकसभा को भंग से नहीं कर सकता। इसके लिये प्रधानमंत्री की सिफारिश आवश्यक है, परंतु एक ऐसे प्रधानमंत्री की सिफारिश मानने के लिए राष्ट्रपति बाधित नहीं है जो लोकसभा का समर्थन खो चुका है अगर वैकल्पित सरकार निर्माण की कोई संभावना हो तो राष्ट्रपति सरकार बनाने का आदेश दे सकते हैं।

अतः त्रिशंकु लोकसभा और विखंडित जनादेश की स्थिति में राष्ट्रपति की सकारात्मक भूमिका हो जाती है तथापि राष्ट्रपति जिन्हें की संवैधानिक अध्यक्ष की भूमिका प्रदान की गई है संयमित और मर्यादित आचरण ही करना चाहिये। जब भी राष्ट्रपति ने परंपराओं से हट कर कार्य सरकार को 'नियुक्त' करना है सरकार 'गठित' करना नहीं। और अगर त्रिशुंक लोकसभा के कारण यदि जल्दी जल्दी मध्यावधि चुनाव भी करवाना पड़े तो लोकतंत्र की रक्षा के लिये उन्हें ऐसे निर्णय लेने में हिचकिचाना नहीं चाहिये। हो सकता है कि इससे ही स्थायित्व का समाधान निकल आये जैसा कि प्रोफेसर रजनी कोठारी का मत है कि कुछ जल्दी-जल्दी चुनाव राजनैतिक दलों को एकजुट बना देंगे और किसी न किसी गठबंधन को स्पष्ट बहुमत मिल जायेगा तथा संयुक्त सरकार आसानी से पूरी अवधि तक कार्य कर पायेंगी।[18]

टिप्पणी एवं संदर्भ

1. 42 वें संवैधानिक संशोधन के दवारा अनुच्छेद 74(1) में संशोधन कर ये शब्द रखे गये, "राष्ट्रपति को सहायता और परामर्श देने के लिये प्रधानमंत्री की अध्यक्षता में एक मंत्रिपरिषद् होगी और राष्ट्रपति अपने कार्यों के संपादन में मंत्रिपरिषद् से प्राप्त परामर्श के आधार पर कार्य करेगा।
2. 44 वें संवैधानिक संशोधन दवारा अनुच्छेद 74(1) में निम्न परिवर्तन किये गये। राष्ट्रपति को मंत्रिपरिषद् से जो परामर्श प्राप्त होगा, उसके संबंध में राष्ट्रपति करे अधिकार होगा कि वह मंत्रिपरिषद् को इस परामर्श पर पुनर्विचार के लिये कहे, लेकिन पुनर्विचार के बाद मंत्रिपरिषद् से राष्ट्रपति को जो परामर्श प्राप्त होगा, राष्ट्रपति उस परामर्श के अनुसार ही कार्य करेंगे।
3. अनुच्छेद 163(1) एवं (3)
4. के. सी. मकरंदन "स्प्रीट ऑफ दी कांस्टीटूशन" ए. बी. एस. पब्लिकेशन्स (1986)
5. आर. वेंकटरमन "माई प्रेसीडेन्शियल ईयर्स" इन्डस-1994
6. " " पृ. सं 271
7. " " पृ. सं 364
8. पृ. सं. 366
9. पृ. सं 413
10. इंदर मल्हौत्रा "इंडिया ट्रेप्ड इन अनसरटेनिटि" यू.बी.एस. पी. डी (1991) पृ. सं 122.
11. उपर्युक्त पृ. सं 135.
12. प्रभु चावला " कांस्टीयूशनल डेलिनक्यूनसी" इंडिया टूडे मार्च 9, 1998 पृ. सं 39.
13. सुमित मित्रा "ऑल दी प्रेसीडेंडस चोइसेज" इंडिया टूडे मार्च 9, 1998 पृ. सं 18-24.
14. सुकमार मुरलीधरन "दी एंड आफ एन ऑरडियल" फ्रन्टलाइन, मई 7,1999, पृ. सं 4-10.
15. तवलीन सिंह "स्टॉप इन्टरफियरिंग मि. प्रेसीडेन्ट" इंडिया टूडे अगस्त 2, 1999, पृ. सं 19.
16. रंजीता भूषण "नॉटी टाइम्स" आउट लुक दिसंबर 29, 1997 पृ. सं 21-22.
17. सुमित मिश्रा "ऑल दी प्रेसीडेंटस चोइसेज" इंडिया टूडे, मार्च 9, 1998, पृ. सं 18-24.
18. एन.वी. सुब्रमण्यम "दी ऐज ऑफ एलाइंसेज" संडे, 2-8 नवंबर 1997 पृ. सं - 26-30.

◆

5

सामाजिक विकास

—डॉ. पूर्णिमा जैन*

प्राचीन साहित्य में विकास से संबंधित समस्याओं का अध्ययन करने के लिए तीन शब्दों अर्थात् 'आधुनिकीकरण' 'उद्विकास' तथा 'प्रगति' का प्रयोग किया जाता था। विकास शब्द का प्रयोग अनेक अर्थो में किया जाता है। अर्थशास्त्र में विकास से तात्पर्य उत्पादन में वृद्धि अथवा सकल राष्ट्रीय आय में वृद्धि के साथ अर्थव्यवस्था में गुणात्मक परिवर्तन से है।

माइरन वीनर, जे.एस. कोलमैन तथा लूसियन पाई के अनुसार राजनीतिक अर्थ, में 'समता' 'विभेदीकरण', 'विशेषीकरण' तथा 'क्षमता' में वृद्धि राजनीतिक विकास की विशेषता है। जिसे इन्होंने विकास संलक्षण की संज्ञा दी है।

प्रांरभिक समाजशास्त्रीय साहित्य में, सामाजिक विकास शब्द का प्रयोग सामाजिक उद्विकास के पर्यायवाची के रूप में किया जाता था। मानव समाज के उद्विकास की प्रमुख अवस्थाएँ (जंगली) बर्वरता तथा सभ्य जो कि समष्टि समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण में पहचानी गई हैं, सामाजिक विकास का चित्र प्रस्तुत करती हैं। सभ्यता की अवस्था को दो भागों में विभाजित किया गया हैं : पूर्व औद्योगिक अवस्था जो समाज की विशेषताओं में परिवर्तन तथा एक नवीन सामाजिक व्यवस्था की उत्पत्ति का अर्थ बताती है।

नवीन विवादों में सामाजिक विकास के अर्थ को उद्विकासीय अवधारणा से पृथक् कर दिया गया है तथा विकास को मानव की आवश्यकताओं की पूर्ति तथा जीवन की गुणवत्ता में सुधार करने पर केंद्रित किया गया हैं।

सामाजिक विकास की अवधारणा आर्थिक विकास से अधिक व्यापक हैं। आर्थिक विकास भ्रामक हो सकता है, क्योंकि प्रतिव्यक्ति आय में वृद्धि तथा सकल राष्ट्रीय उत्पाद में वृद्धि से संबंधित आँकड़े गलत हो सकते हैं। अतः समाजशास्त्रियों ने 'सकल राष्ट्रीय उत्पाद' के स्थान पर सकल राष्ट्रीय कल्याण' की अवधारणा का प्रयोग किया है।

सामाजिक विकास एक लक्ष्यपरक् अवधारणा है। अतः यह निम्न उद्देश्यों की पूर्ति करता है:-

1. व्यक्ति के स्थान पर बृहद् समस्याओं पर बल, जिसमें निर्धन भी सम्मिलित हों
2. मानव आवश्यकताओं की पूर्ति तथा जीवन की गुणवत्ता में सुधार करने के आधार पर सामाजिक लक्ष्यों को पुनःपरिभाषित करना:
3. आर्थिक व सामाजिक लक्ष्यों के मध्य अंतरसंबंधों को ध्यान में रखतें हुए योजनाओं का निर्माण तथा उनहें लागू करना:
4. नवीन सामाजिक लक्ष्यों की प्राप्ति करने के लिए पुनर्वितरणात्मक संस्थात्मक संरचना का निर्माण, तथा पुनःपरिभाषित सामाजिक लक्ष्यों की पूर्ति के लिए विस्तृत संगठनात्मक मूल्यों में परिवर्तन करना।
5. सामाजिक प्रगति का मूल्यांकन करने तथा नवीन सामाजिक प्रवृत्तियों का मूल्यांकन करने के लिए सूचकांकों का निर्माण करना।
6. वृद्धि के स्तरों की स्वयंपोषिता का निर्धारण करने के लिए नियंत्रण प्रविधियाँ स्थापित करना।
7. वृद्धि से संबंधित तथा अन्य समस्याओं को कुशलता तथा शीघ्रता से सुलझाने के लिए तत्परता :
8. वर्तमान सामाजिक स्वरूपों की पर्याप्तता तथा योग्यता की जाँच करने तथा उन पर प्रश्न चिह्न लगाने की संभावना का वातावरण उत्पन्न करना। ऐसे वातावरण का निर्माण करना जिसमें यह संभव हो कि वर्तमान सामाजिक स्वरूपों की योग्यता तथा पर्याप्तता पर प्रश्न चिह्न लगा सकें तथा उनकी पुनःसंरचना के लिए कार्य

* अध्यक्ष, समाजशास्त्र व राजनीतिशास्त्र विभाग, डी० ई० आई. (डीम्ड) विश्वविद्यालय, दयालबाग, आगरा

कर सकें।

जे. एफ. एक्स. पैवा के अनुसार सामाजिक विकास के दो अंतासंबंधित पक्ष हैं :

1. लोगों में स्वयं तथा समाज के कल्याण के लिए निरंतर कार्य करने की क्षमता।
2. समाज की संस्थाओं में परिवर्तन या उनका व्यक्तियों तथा सामाजिक-आर्थिक संस्थाओं के मध्य संबंधों में सुधार के द्वारा विकास जिससे कि मानव की आवश्यकताओं की पूर्ति हो सके, विशेषकर निम्न स्तर पर।

द्वितीय विश्व युद्ध से समाजवैज्ञानिकों की विकास के अध्ययन से रूचि प्रारंभ हुई तथा उन्होंने इसे आर्थिक वृद्धि या आर्थिक विकास का नाम दिया। प्लेमिंग ने विकास से संबंद्ध साहित्य का सर्वेक्षण किया और विकास तथा वृद्धि के नौ अर्थों को बताया।

1. कुछ विद्वानों ने विकास की परिभाषा ही नहीं दी हैं, बल्कि इसके लक्ष्य, सिद्धांत तथा विकास के अध्ययन के उपागम की व्याख्या प्रस्तुत की है।
2. अधिकांश लोगों ने विकास व वृद्धि को, संपूर्ण आय में वृद्धि, अथवा प्रति व्यक्ति आय में वृद्धि के रूप में बताया है, तथा दोनों प्रक्रियाओं को समान माना है।
3. कुछ लोगों ने विकास तथा वृद्धि को देशों के आधार पर विभिन्नीकृत किया है : प्रगतिशील से अभिप्राय अमीर तथा विकासशील से आशय गरीब देश से है।
4. विचारकों के एक समूह के अनुसार विकास को इसकी उत्पत्ति के आधार पर परिभाषित किया गया है, अर्थात् प्राथमिक प्रेरणा अर्थव्यवस्था के अंदर से ही आती है अथवा बाहर से।
5. अन्य समूह ने विकास तथा वृद्धि को उत्पादन क्षमता में प्रसार के आधार पर परिभाषित किया है। कुछ लोगों ने इस प्रसार को वृद्धि बताया है तथा कुछ ने विकास।

सामाजिक विकास का उद्देश्य मानव आवश्यकताओं की पूर्ति करने तथा शासकीय नीतियों के मध्य सामंजस्य स्थापित करने का प्रयास है जिससे कि समाज में व्यक्तियों के जीवन की गुणवत्ता को सुधारा जा सके। सामाजिक विकास का संबंध विशिष्ट समाज के व्यक्तियों की मूल आवश्यकताओं की पूर्ति करना : समाज में संरचनात्मक तथा गुणात्मक परिवर्तन करना, समाज-कल्याण जो न सिर्फ अभिजन वर्ग का हा बल्कि जनता का; सत्ता का विकेंद्रीकरण, निर्णय लेने में जन-सहभागिता आदि।

सामाजिक विकास की अभिव्यक्ति किसी समाज के लोगों के जीवन स्तर में सुधार, स्वास्थ्य स्तर में उन्नति, शिक्षा के स्तर में बढ़ोतरी, सामाजिक असमानता में कमी, रोजगार के अवसरों में वृद्धि, सामाजिक सुरक्षा व कल्याण आदि की मात्रा में वृद्धि के रूप में होती है।

संयुक्त राष्ट्र संघ के अनुसार विकास का तात्पर्य है "सामाजिक व्यवस्था, सामाजिक संरचना, संस्थाओं, सेवाओं की बढ़ती क्षमता, जो संसाधनों का उपयोग इस प्रकार से करे ताकि जीवन स्तर में अनुकूल परिवर्तन आए।" जीवन स्तर व्यापक अर्थ में स्वीकृत जीवन मूल्य के आधार पर आमदनी, धन और अवसर के बेहतर विरतण से संबंधित है।

विकास की प्रक्रिया जटिल होती है क्योंकि विकास आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक और प्रशासनिक तत्वों के समन्वय का परिणाम होता है। विकास का तात्पर्य समाज की संरचनाओं में ऐसा परिवर्तन है जो उस समाज के सभी वर्गो के मानव समूहों के जीवन में परिलक्षित हो। दूसरे शब्दों में, विकास को अच्छी वृद्धि और उचित आधुनिकीकरण के रूप में भी परिभाषित करते है।

अच्छी वृद्धि का प्रयोग आर्थिक संदर्भ में किया गया है, जिसका प्रचलित अर्थ है :

1. कुल राष्ट्रीय उत्पादन में वृद्धि।
2. प्रति व्यक्ति आय में वृद्धि अच्छी का अर्थ-आर्थिक वृद्धि में क्रमशः तेजी से विस्तार और इस विस्तार के लाभ को विभिन्न समूहों तक पहुँचाना।

विकास से उचित संरचनात्मक परिवर्तन की अवधारणा स्पष्ट होती है।

अतः आर्थिक व सामाजिक आधार पर समाज में सुविधा-असुविधा समूहों की जो संरचना बनी हुई है, उसमें आर्थिक वृद्धि के साथ-साथ आमूल परिवर्तन लाना है। जिसका अर्थ है: विभिन्न वर्गों और जातीय समूहों की सामाजिक-आर्थिक हैसियत में तत्काल बदलाव, जो धन की वितरण प्रणाली में परिवर्तन, ग्रामीण स्तर पर भूमि-सुधार जैसे कार्यक्रमों को लागू करना, आर्थिक वृद्धि के साथ पूर्ण

रोजगार गरीबी उन्मूलन आदि से संबंधित है।

गुन्नार मिर्डल ने 'एशियन ड्रामा' में विकास की सफलता-असफलता के कारणों का विवेचन किया है।

उनके अनुसार विकास का अर्थ :-

1. बुद्धि विवेक सम्मत मूल्यों का विकास तथा राजनीतिक, सामाजिक व आर्थिक स्तर पर प्रयोग।
2. विकास योजना के प्रमुख उद्देश्य निम्न हैं :
   1. श्रम की उत्पादन के प्रमुख उद्देश्य निम्न हैं :
   2. जीवन स्तर में उल्लेखनीय वृद्धि
   3. सामाजिक आर्थिक बराबरी की ओर बढ़ता कदम
   4. संस्थात्मक परिवर्तन
   5. औद्योगीकरण

मिर्डल के अनुसार धन का पुनःविभाजन आवश्यक है, पर पर्याप्त नहीं। इसके अतिरिक्त देश के अंदर आर्थिक मोर्चो पर शीघ्र भूमि सुधार तथा कृषि का आधुनिकरण भी आवश्यक है। कार्यक्रमों के कार्यन्वयन में राज्य और सरकार की भूमिका प्रमुख होती है।

एल. टी. हाबहाउस ने सामाजिक विकास के चार सूचकांक बताए है :

1. आकार में वृद्धि- सामाजिक विकास के साथ किसी समाज विशेष के आकार में वृद्धि होती जाती है।
2. दक्षता में वृद्धि-सामाजिक विकास प्रत्येक समाज की निर्माणक इकाइयों की कार्यदक्षता की मात्रा में वृद्धि होती जाती है।
3. पारस्परिकता में वृद्धि-सामाजिक विकास के अंतर्गत समाज की विभिन्न इकाइयों के मध्य विभेदीकरंण तथा विशेषीकरण में वृद्धि के साथ इनमें पारस्परिकता भी बढ़ती जाती है।
4. स्वाधीनता में वृद्धि-स्वाधीनता विकसित तथा सभ्य समाज की विशेषता है।

सामाजिक विकास के साथ समाज में जीवन के अवसरों में वृद्धि होती है, जिसे प्रत्येक व्यक्ति को अपनी रूचि के अनुसार व्यवसाय चुनने, चिंतन करने तथा विचारों की अभिव्यक्ति करने आदि की स्वाधीनता प्राप्त होती है

विकास के फलस्वरूप अंतर्राष्ट्रीय दूरी बढ़ती है। विकासशील देशों में आर्थिक और सामाजिक प्रगति तो होती है, साथ ही समृद्ध विकसित देश और भी समृद्धध होते जाते हे। इसलिए विश्व संस्थाएँ आज संतुलित अंर्तराष्ट्रीय विकास और समान विश्व व्यवस्था के विकास की बात करती है। मिर्डल ने इस असमानता के लिए राष्ट्रीय, अंतर्राष्ट्रीय, औपनिवेशिक सामाज्यवाद का उत्तरदायी माना है। उपनिवेशवाद के अंत के बाद भी विकसित देशों ने अंतर्राष्ट्रीय व्यापार और मुक्त बाज़ार-व्यवस्था के सहारे विकसित और विकासशील देशों के बीच आर्थिक विषमता मे वृद्धि की है।

विकास की विशेषताएँ.

1. विकास एक समन्वित प्रक्रिया है। अतः सकल राष्ट्रीय आय में निरंतर वृद्धि की दर के आधार पर विकास को मापना वर्तमान राष्ट्रीय व अंतर्राष्ट्रीय परिवेश में स्वीकृत नहीं है।
2. व्यक्ति और समूह के विकास को जीवन में निरंतर गुणात्मक वृद्धि और विस्तार का पर्याय मानना चाहिए।
3. यद्यपि गुणात्मक वृद्धि एक निर्गुण अवधारणा है पर इसके कुछ सगुण पक्ष भी है :
   क. शिक्षा में विस्तार : तीसरी दुनिया के देशों में शीघ्र से शीघ्र पूर्ण साक्षरता का लक्ष्य प्राप्त करना, अर्थात् सबके लिए शिक्षा उपलब्ध कराना।
   ख. सबके लिए आवश्यक पौष्टिक भोजन उपलब्ध कराना।
   ग. सबके लिए स्वास्थ्य सेवाएँ उपलब्ध कराना।
   घ. सबके लिए मौलिक स्वतंत्रताएँ आरक्षित होना।
   ड. प्रति व्यक्ति वास्तविक आय में वृद्धि के साथ-साथ धन का उचित विभाजन।
   च. मानव और प्राकृतिक संसाधनों तक सबकी पहुँच हो।
4. विकास की नवीन अवधारणा के अनुसार अब विकसित व अविकसित समाज दोनों को, ही पर्यावरण संबंधी शर्तों को मानकर विकास कार्यक्रम चलाना है।

अर्थात विकास ऐसा हो कि वर्तमान के साथ-साथ भविष्य में भी विकास कायम रह सके।

वर्तमान उपलब्धि के नाम पर भविष्य को अनदेखा नहीं करना चाहिए।

विकास की नीति ऐसी हो कि प्राकृतिक संसाधन और

संपदा का वर्तमान भंडार तो बना रहे, लेकिन उसके वृद्धि होना आवश्यक है। अर्थात् विकास स्थायी होना चाहिए।

स्थायी विकास के उद्देश्य

- समाज के निम्न वंचित समूह के लिए न्याय,
- विभिन्न वर्तमान व भावी पीढ़ियों के लिए न्याय,
- पर्यावरण, अर्थव्यवस्था और समाज के बीच उक्त उद्देश्यों और शर्तों को ध्यान में रखकर तालमेल बनाए रखना।
- आर्थिक कुशलता,
- प्रकृति के प्रति न्याय,

निष्कर्ष रूप में कह सकते हैं कि विकास की अवधारणा अपने प्रारंभिक काल से वर्तमान तक परिवर्तित होती रही है और होती रहेगी।

प्रारंभिक अर्थशास्त्रियों ने तो विकास को शुद्ध आर्थिक अर्थों में परिभाषित किया था, लेकिन अब समाजशास्त्रियों ने इसमें सामाजिक व मनोवैज्ञानिक पक्ष जोड़कर इसके अर्थ को अधिक व्यापक कर दिया है।

चूँकि विकास में मानव विकास का तत्व जोड़ दिया गया है और स्वयंपोषित विकास अंततः आवश्यक हो गया है, इसलिए अब इसमें पर्यावरण संरक्षण एक आवश्यक तत्व बन गया है।

संदर्भ सूची

1. प्रैस्टनश, पी. डब्ल्यू. (1998), न्यू ट्रैन्डस इन डेवलपमैन्ट थ्योरी, रूटलेज एण्ड कैगन पॉल-लंडन।
2. होस्लिट्स बी. एफ. द सोश्योलाजिकल आस्पेक्ट्स ऑफ इकोनोमिक ग्रोथ।
3. वीनर मायरन (संपादित). मोर्डनाइजेशन : द डाइनामिक्स ऑफ ग्रोथ
4. हैगन, ई.ई. आने द थ्योरी ऑफ सोशल चेन्ज।

◆

6

उपनिषद पर्यावरणीय अवधारणा और अक्षय विकास

*—डॉ. जितेंद्र शर्मा**

सभ्यता के उषःकाल से ही मानव विकास की अनंत संभावनाओं को अपने अंर्ततम में समेटे हुए प्रगति के सोपान पर उत्तरोत्तर आरूढ होता जा रहा है। इस हेतु कभी उसने "यावज्जीवेत् सुखं जीवेत् ऋणं कृत्वा घृतंपिवेत्" की तो कभी "संतोषं परमं् धनम्" का नितांत अपरिग्रही एवं वैराग्यवादी सिद्धांत। कहना नहीं होगा कि उक्त दोनों सिद्धांत यद्यपि पृथक्-पृथक् मानव जीवन के दो पक्षों का ही प्रतिनिधित्व करते हैं तथापि घोर एकांगिकता एवं अतिवादिता से परिपूर्ण हैं। परिणामतः उनकी अंतिम फलश्रुति मानव जीवन एवं तत्संबंधित पुरुषार्थ की अपूर्णता ही है। वस्तुतः मनुष्य न तो त्रिविध एषणाओं की सिद्धि की तलाश में भटकने वाला वन्य पशु है और न ही सांसारिक झंझावातों से भयाक्रांत, भौतिक जीवन से पलायन कर चुका, गिरि-गह्वरों में भटकने वाला योगी। जीवन का पूर्ण पुरुषार्थ तो धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष की संप्राप्ति ही है। परंतु आज हमने चाहे-अनचाहे विकास के ऐसे मॉडल को अख्तियार कर लिया है जहाँ जीवन का अंतिम उद्देश्य भोग्य पदार्थों की अधिकाधिक उत्पत्ति और उनकी सर्वतोभावेन संप्राप्ति तक ही सिमट गया है। प्रकृति सब प्रकार से हमारा संरक्षण और संवर्धन करती है परंतु भोग की बढ़ती लालसा ने अधुना मनुष्य और प्रकृति में संघर्ष की स्थिति पैदा कर दी है। भोग की प्रचंड लालसा ने इस हद तक पर्यावरण प्रदूषण को बढ़ा दिया है कि हमारे अस्तित्व के समक्ष ही संकट खड़ा हो गया है। अपने वर्तमान को ही सुखद बनाने में यदि हम अपनी संपूर्ण प्राकृतिक संपदा का उपभोग कर डालेंगे ताकि फिर भविष्य के लिए क्या बचेगा ? परिणामस्वरूप संप्रति अक्षय विकास "वैज्ञानिकों, दार्शनकिों और समाज सुधारकों के चिंतन का प्रमुख विषय बन गया है। अब हमें विकास के ऐसे मॉडल को अपनाना पड़ेगा जिसमें उपभोग के साथ-साथ सरंक्षण का सिद्धांत भी लागू हो। मेरा तो स्पष्ट मानना है कि जब तक हम इस भोगवादी अर्थ-दर्शन पर नियंत्रण नहीं करते हैं, पर्यावरण की शुचिता और संरक्षण को नहीं कायम करते हैं तब तक सतत् विकास की कल्पना बेईमानी होगी।

इस आलेख के लघु कलेवर में भारतीय आध्यात्मिक सभ्यता के स्वर्णिम परिच्छेद का प्रतिनिधित्व करने वाली उपनिषद्कालीन पर्यावरण और विकास की अवधारणा को रूपायित करने का प्रयास किया गया है। इसमें उपनिषद कालीन जीवन दर्शन और मूल्यों के माध्यम से मनुष्य और प्रकृति के संबंधों की व्याख्या करने के साथ ही इस निष्कर्ष पर ध्यान आकृष्ट करने का प्रयास किया गया है कि पर्यावरण प्रदूषण से निजात पाने हेतु, सतत् विकास को मानव जीवन दर्शन का अंग बनाने हेतु हमें उपनिषदकालीन आर्ष चिंतन को अंगीकृत और आत्मार्पित करना ही पड़ेगा। पर्यावरण प्रदूषण आधुनिक भोगवाद, जड़वाद तथा विज्ञान तकनीकी पद्धति की अनिवार्य दुखःद परिणति हैं जहाँ तक भोगवाद का प्रश्न है, आखिर में योग्य पदार्थों की एक सीमा होती है। उसके उपरांत वे समाप्त हो जाते है जबकि भोग की उद्दाम लालसा अहर्निश प्रबल से प्रबलतर होती जाती है। यदि मनुष्य अपने वर्तमान को ही सुखद बनाने में अपनी सारी प्राकृतिक संपदा का उपभोग कर डालेगा तो फिर भविष्य हेतु क्या बचेगा ? ऐसी स्थिति में एक न एक दिन स्वअस्तित्व पर ही संकट खड़ा हो जाएगा। डायनासोर की प्रजाति के साथ यही हुआ। अंततः एक दिन ऐसा आया जब भूख और प्यास से तड़पती हुई 'संपूर्ण प्रजाति का ही विनाश हो गया। प्रो. रामजी सिंह ने अपनी पुस्तक "गाँधी दर्शन मीमांसा" में वर्तमान उपभोगतावाद तथा

*दर्शनशास्त्र विभाग, म.गाँ.वि.ग्रा.वि., चित्रकूट, सतना (मध्य प्रदेश)

उद्योगवाद जनित समस्याओं का यथार्थ चित्रण प्रस्तुत किया है जिसके उल्लेखजनित लोभ का संवरण में नहीं कर पा रहा हूँ। "औदयोगिक सभ्यता ने जनसंख्या के बड़े भाग को एक सीमित क्षेत्र में रहने के लिए बाध्य किया है जहाँ उनके नियमित एवं नियंत्रित अप्राकृतिक जीवन में प्रकाश, जलवायु, तापमान सब कुछ अप्राकृतिक ही मिलता हैं उस व्यस्त कोलाहलपूर्ण संसार में मानव की शक्तिदायिनी नीरवता छिन गई, परिवार एवं पड़ोस का प्रेम धुँधला पड़ गया। मशीन ने खतरे से परिपूर्ण प्राकृतिक शरीर श्रम के बदले सुरक्षापूर्ण सुसंगठित क्रीड़ा-विधान प्रस्तुत किया है। भोजन में प्राचुर्य है, पौष्टिकता भी है लेकिन शायद प्राकृतिकता नहीं। ज्ञान भी सर्वसुलभ है लेकिन इसमें यांत्रिकता है, व्यक्तिगत पुरुषार्थ नहीं। कल्पना, सृजनशीलता, अभिक्रम एवं साहसिकता का शनैः-शनैः क्षय हो रहा हैं उद्योगवाद स्थित निरंतर उत्तेजना, बौद्धिक एवं मानसिक दुर्बलता यौन अतिक्रमण, अस्तव्यस्तता, अशांति, दूषित वायु एवं अप्राकृतिक अन्नादि के कारण हमारी अभियोजन शक्ति का लगातार ह्रास हो रहा है जो सचमुच हमारी जीवनी शक्ति का ही ह्रास है।[1]

पर्यावरण संरक्षण हेतु हमें विकास के ऐसे मॉडल को व्यवहृत करना पड़ेगा जिसमें उपभोग के साथ-साथ संरक्षण का सिद्धांत भी सम्मिलित हो। उपनिषद तत्ववेत्ता भोगेच्छाओं को त्याज्य और गर्हित बतलाते हुए उनके संयमन का निर्देश देता है। "आप जानते ही हैं कि धन से मनुष्य कभी तृप्त नहीं हो सकता है। आग में घी डालने से जैसे आग जोरों से भड़कती है उसी प्रकार धन और भोगों की प्राप्ति से भोगकामना का और भी विस्तार होता हैं। वहाँ तृप्ति कैसी ? वहाँ तो दिनरात अपूर्णता और अभाव की अग्नि में जलना पड़ता है।"[2]

पर्यावरण को नष्ट करने के मूल में हिंसा की प्रवृत्ति होती हैं यह एक वैज्ञानिक तथ्य है कि न केवल मनुष्यों और पशु-पक्षियों में बल्कि पेड़-पौधों में भी जीवन है। ऐसी स्थिति में पेड़-पौधों को नष्ट करना उतना ही हिंसात्मक है जितना अन्य जीवों को। विगत पचास वर्षों में संपूर्ण दुनिया में तेजी से वनों का विनाश किया गया। वनों की कटाई से शस्य श्यामला धरती का प्राकृतिक वैभव तो नष्ट हो ही रहा है वन्य जीवों और मनुष्यों के लिये भी संकट पैदा हो गया है। 'अहिंसा परमो धर्मः' अखिल भारतीय दर्शन का मूल मंत्र है। अहिंसा के आदर्श के अंतर्गत जीवों को मनसा, वाचा, कर्मणा किसी भी प्रकार से कष्ट न पहुँचाते हुए उनके संरक्षण और संवर्धन हेतु प्रयास करना समाहित है। उपनिषदों के ऋषि, हिंसा की बात तो दूर रही प्रकृति के प्रत्येक उपादान में परम शांति का साक्षात्कार करता है और उनकी श्रीवृद्धि हेतु सत्प्रयास की सद्प्रेरणा देता है : "जो प्राकृतिक गुणों से सर्वथा अतीत दिव्य विशुद्ध परमधाम में विराजित स्वयं प्रकाश परब्रहम परमेश्वर हैं वे ही जलों में मत्स्य, शंख, शक्ति आदि के रूप में प्रकट होते हैं। पृथ्वी, वृक्ष, अंकुर, अन्न, औषधि आदि के रूप में यदि सत्कर्मों में नाना प्रकार के यज्ञ फलादि के रूप में और पर्वतों में नदी-नद आदि के रूप में प्रकट होते हैं"।[3]

उपनिषद्-काल में पर्यावरण प्रदूषण की बात तो दूर रही प्रकृति या पर्यावरण की उपेक्षा भी नहीं की जाती थी। असंतुलित पर्यावरण में वनोपजों एवं कृषि उपजों पर तो प्रतिकूल प्रभाव पड़ता ही है, अतिवृष्टि, अनावृष्टि एवं विविध महामारियाँ, असंतुलित पर्यावरण की ही परिणति हैं। इसलिए ऋषि-ऋतुओं की अनुकूलता प्राप्त करने के लिए उनकी बहुविध उपासना करता है। छांदोग्यउपनिषद् में वर्णित है ऋतुओं की उपासना करने से व्यक्ति न केवल ऋतु संबंधी भोगों से संपन्न होता है बल्कि इससे पशु संपदा में भी वृद्धि होती है। ऋतुओं के ठीक-ठीक बरतने से पशुओं के लिए अनुकूल समय रहता है।[4]

विकास को कोई भी मॉडल, जिससे पर्यावरण प्रदूषित होता है परोक्षतः विनाश के गहरे गह्वर में ही ले जाता हें उपनिषदों का पर्यावरण के लिए महनीय अवदान यह है कि उसमें पर्यावरण के घटकों वायु, अग्नि, पृथ्वी, आकाश, वनस्पतियों को तत्वमीमांसीय दैवी आधार प्रदान कर उनकी शुचिता को वांछनीय बना दिया गया है। प्रकृति पूजा का जो वर्णन हमें उपनिषदों में उपलब्ध होता है वह इसी तत्वमीमांसीय चिंतन की शास्त्रीय व्यावहारिक परिणति है। विवेच्य काल में पर्यावरण के मूल अवयवों की दैवी शक्तियों के रूप में उपासना की गई जिससे वे मानव के प्रति अनुकूल व शांत हों अर्थात् शांत एवं संतुलित रूप में हमें उपलब्ध हो सकें। श्वेताश्वतरपनिषद् में अग्नि, जल, लोक, औषधियों तथा वनस्पतियों तक में परम सत्ता के अधिवास को अंगीकार करते हुए उनकी पूजा, संरक्षण और संवर्धन का निर्देश दिया गया हैं :

"यो देवो अग्नौ यो अप्सु यो विश्वं भुवनमाविवेश
यः औषधीषु यो वनस्पतिषु तस्मै देवाय नमो नमः"[5]

उपर्युक्त विवेचन तो मनीषियों की पर्यवरणीय चेतना की, विकास के दर्शन की सैदधांतिक अभिव्यक्ति है। व्यावहारिक जीवन में भी वे कोई ऐसा कार्य नहीं करते थे जिससे पर्यावरण पर प्रतिकूल प्रभाव पड़े। उक्त काल में नाना प्रकार के यज्ञों के संपादन से जहाँ पर्यावरण संरक्षण होता था, लोगों का ऐहिक जीवन सुखी और समृद्ध होता था, वहीं उनके आभ्यंतर प्रदूषण (मानसिक विकार-काम, क्रोध, मद, मात्सर्य) का भी शमन होता था। पर्यावरण की शुचिता पर इतना अधिक ध्यान दिया जाता था कि जो यज्ञ नहीं करता था, उसे असुर की संज्ञा से संज्ञापित किया जाता था। छांदोग्य उपनिषद् में वर्णित है-"इसी से इस लोक में जो दान न देने वाला, श्रद्धा न करने वाला और यजन न करने वाला पुरुष होता है उसे शिष्ट जन अरे, यह तो आसुर (आसुरी स्वभाव वाला) ही है" ऐसा कहते हैं। (6)

उपनिषदों के ऋषि और मनीषी चिंतन के जिस शिखर पर अवस्थित थे, उन्होंने विकास की जिस ऊँचाई को प्राप्त कर लिया था वह पर्यावरण की शुद्धता और वनकुंजों की निस्तब्धता के कारण ही संभव हो सका था। भारत की प्राचीन अर्थव्यवस्था, गुरूकुल और तपोवनों का पावन परिवेश, आश्रम-मृगों का निःशंक विचरण, पर्वत-मालाओं, गिरि-निर्झरों, सर-सरिताओं का निसर्गजात सौंदर्य पर्यावरण का सुरम्य चित्र अंकित करते हैं। आज तथाकथित सभ्य मानव प्रजाति ने अपने प्राकृतिक परिवेश को नकार दिया है। उसके जीवन में कृत्रिमता का प्राधान्य हो गया है। परिणामस्वरूप वह परिस्थितिकी असंतुलन की मार झेलने के लिए अभिशप्त है।

जनसंख्या विस्फोट भी विकास की आत्मघाती सोच तथा पर्यावरण प्रदूषण का प्रमुख कारण है। रक्तबीज की भाँति दिनानुदिन वर्धमान जनसंख्या की नाना विध आवश्यकताओं उदर पोषण, आवास आदि की पूर्ति हेतु वन और वनोपजों का अंधाधुंध दोहन किया जा रहा है। यातायात के साधनों में वृद्धि, गरीबी, बेरोजगारी, बेकारी और बेबसी में वृद्धि जनसंख्या वृद्धि का अनिवार्य परिणाम है। यदि हमें दीर्घकाल तक मानवीय अस्तित्व को बनाए रखना है तो जनसंख्या विस्फोट पर प्रभावी अंकुश लगाना ही होगा। जनसंख्या और पारिस्थितिकी का संतुलन/सामंजस्य बना रहे इस निमित्त आलोच्य युग में प्राकृतिक संयम (इंद्रिय निग्रह) का सहारा लिया जाता था। उपनिषदों में ऋतुकाल में स्त्रीप्रसंग का विधान किया गया है।

अंत में "प्रकृति की तरफ लौटो" आह्वान के साथ इस आलेख को विराम देना चाहता हूँ। यहाँ प्रकृति शब्द दो अर्थों में प्रयुक्त है (1) स्थूल आशय (2) सूक्ष्म आशय।

स्थूल आशय से तात्पर्य मनुष्य के बाह्य परिवेश नदी, नद, सरोवर, जंगल, बाग-बगीचों के संरक्षण व संवर्धन हेतु प्रयास करने से है। मनुष्य की आभ्यंतर प्रकृति पर विचार करना होगा। उपनिषद्तत्वेत्ता कहता है "तमेव भांतमनुभाति सर्वतस्य भासा सर्व इंद विभाति" अर्थात् जो चेतना हमारे अंदर है वही बाह्य जगत् में भी। बाह्य और आभ्यंतर प्रकृति में कोई विरोधाभास नहीं है। इस तत्वज्ञान की अनुभूति होते ही प्रकृति पुनः हमें देवी, सहचरी के रूप में प्रतीत होने लगेगी। हम प्रकृति के साथ पुनः जीना प्रारंभ कर देंगे। प्रकृति के प्रति समस्त नकारात्मक भाव का शमन हो जाएगा। अर्थात् अब हमें विकास की परिभाषा में किंचित संशोधन करना पड़ेगा। विकास के अंतर्गत मात्र भौतिक, उन्नयन ही नही आध्यात्मिक अभ्युदय की उपनिषद् कालीन अवधारणा का भी सन्निवेश करना पड़ेगा। विकास ऐसा हो जिसमें हमारे चतुर्विध पुरुषार्थों धर्म, काम, मोक्ष की समवेत सिद्धि हो सके। स्पेस कालोनियाँ बनाने के बजाय हमें इस धरती को ही स्वर्ग बनाने की कल्पना करनी होगी। एतदर्थ आप निषद आलोक पंथ में ही हमें विकास की यात्रा तय करनी पड़ेगी।

भोगवाद और जड़वाद के चकाचौंध में उलझी हुई मानव जाति अधुना आत्मस्वरूप को, उक्त आत्म दर्शन को विस्मृत कर चुकी हैं जिसकी अनिवार्य परिणति के रूप में बाह्य और आभ्यंतर प्रकृति का विरोधाभास हैं "बोया पेड़ बबूल का आम कहाँ से होय"। जब साधन ही बुरे हों तो उत्तम साध्य या फल की प्राप्ति की कल्पना बंध्या पुत्र के समान है। आज महती आवश्यकता है, मनुष्य के इस वैचारिक प्रदूषण को दूर करने की, उसके आत्मस्वरूप के पुनर्दर्शन की। जिस दिन मनुष्य आत्मप्रकृति का अभिज्ञान प्राप्त कर लेगा उसी दिन बाह्य और आभ्यंतर प्रकृति में समरसता स्थापित्त हो जाएगी। देखना है आधुनिक भोगवाद और जड़वाद की बंजर भूमि इस उपनिषद कालीन आध्यात्मिक चेतना के खाद-पानी का उपयोग कर पाती है या नहीं।

संदर्भ सूची

1. डॉ. रामजी सिंह-गाँधी दर्शन मीमांसा पृष्ठ 31 प्रकाशक बिहार हिंदी ग्रंथ अकादमी।
2. कठोप निषद् 01/01/27 अंतर्गत ईशादि नौ उपनिषद् गीता प्रेस, गोरखपुर।
3. छांदोग्य उपनिषद् अध्याय 2 पृष्ठ 165, गीताप्रेस, गोरखपुर।
4. वही 2/2/2।
5. श्वेताश्वतर उपनिषद् 2/17 अंतर्गत ईशादि नौ उपनिषद् गीताप्रेस, गोरखपुर।
6. छांदोग्य उपनिषद् (शंकर भाष्य) 8/8 पृष्ठ 885 गीताप्रेस गोरखपुर।

7

ऐतिहासिक धरोहर : दिगंबर जैन अतिशय क्षेत्रा पटनागंज

*—डॉ. एस.एम. पचौरी**

भूमिका

ऐतिहासिक सूर्य मंदिर की मनोरम नगरी रहली (जिला सागर) देहार और सुनार नदी के संगम पर स्थित है। इसे यदि मराठाकालीन सांस्कृतिक धरोहरों का अनुपम स्थल कहा जाये तो इसमें अतिशयोक्ति नहीं होगी। सुनार नदी के पूर्वी तट पर जहां 15 वी 16 वीं सदी में निर्मित जैन धर्मावलंबियों का प्रमुख केंद्र दिगंबर जैन अतिशय क्षेत्र पटनागंज अवस्थित है तो वहीं दूसरी ओर इसके पश्चिमी तट पर बुंदेलखंड का प्रख्यात सूर्यमंदिर तथा दक्षिणी छोर पर पंढरीनाथ का नागर शैली में निर्मित जगदीश मंदिर यहां की मुख्य सांस्कृतिक विरासतें हैं। जैन तीर्थ क्षेत्र के रुप में अतिशय क्षेत्र पटनागंज का भारत के तीर्थ क्षेत्रों में प्रमुख स्थान हैं।

चौबीस तीर्थंकर, समस्रकूट चैत्यालय, नंदीश्वरद्वापर व पंच मेरु की रचना, गंध कुटीर, तीनमूर्ति सहस्रफणावली छत्र सहित पार्श्वनाथ भगवान की प्रतिमा तथा भगवान महावीर स्वामी की विशाल प्राचीनतम प्रतिमा समेत ऊंचे ऊंचे शिखरों से सजे संवरे इन 30 मंदिरों के समूह को दिगंबर जैन अतिशय तीर्थ क्षेत्र पटनागंज नाम से संबोधित किया जाता है। पटनागंज सुनार नदी का दांया तट है चूंकि उक्त मंदिरों का भव्य समूह इसी भू भाग पर स्थित है इसलिए "पटनागंज" शब्द का अतिशय क्षेत्र के साथ जुड़ना अपनी सार्थकता स्वयं सिद्ध करता है। जिनागम के अनुसार इस संप्रदाय के मुख्यतः दो प्रकार के तीर्थ क्षेत्र होते हैं। एक सिद्ध क्षेत्र और दूसरा अतिशय क्षेत्र। जिस तीर्थ क्षेत्र से तीर्थंकारों के पांच कल्याणकों यथा—गर्भ, जन्म, तप, ज्ञान तथा मोक्ष (निर्वाण) में से निर्वाण कल्याणक घटित हुआ हो उन्हें सिद्ध क्षेत्र कहा जाता है। उदाहरणार्थ : सम्मेदशिखरजी पावापुर जी प्रसिद्ध सिद्ध क्षेत्र हैं जहां से क्रमशः 20 तीर्थंकरो व चौबीसवें तीर्थंकर महावीर स्वामी को निर्वाण प्राप्त हुआ। वहीं दूसरी तरफ जिन तीर्थ क्षेत्रों से शेष चार में से कोई एक या अधिक कल्याणक घटित होते है उन्हें अतिशय क्षेत्र कहा जाता है। उदाहरणार्थ राजग्रही अतिशय क्षेत्र, गुणावाजी अतिशय क्षेत्र जहां से महावीर स्वामी के लिये क्रमशः तप और ज्ञान कल्याणक प्राप्त हुआ था।[1] आधुनिक परिप्रेक्ष्य में उन तीर्थ क्षेत्रों के साथ भी अतिशय शब्द जोड़ा जाने लगा है जहां कोई दैवीय चमत्कारिक घटना घटित हुई हो। उदाहरणार्थ कुंडलपुर अतिशय तीर्थ क्षेत्र, जिला दमोह, मध्य प्रदेश।

रहली तीर्थ क्षेत्र को चमत्कारिक अतिशय क्षेत्र के अंतर्गत श्रेणीबद्ध किया जा सकता है। यहां पर एक किवदंती प्रचलित है कि यहां एक "लोकमन जैन" नाम का एक पुजारी था जो बाल्यावस्था में अपने पिता के साथ यहां दर्शन करने क` लिये आया था। जन्मांध होने के बावजूद भी जैन पूजा अर्चनाएं कंठस्थ थी। क्षुल्लक गणेश प्रसाद जी वर्णी उसकी योग्यता और कार्य से प्रभावित हुए तथा करुणाभाव से उन्होने कहा कि यदि यह बालक इसी क्षेत्र पर रहते हुए भगवान की पूजा अर्चना करे तो भविष्य में इसकी आंखों को ज्योति प्राप्त हो सकती है। लोकमन ने वर्णी जी का अक्षरशः अनुकरण किया और वर्णी जी के अनुसार ही भगवान के अभिषेक के पश्चात् प्राप्त गंधोदक को सर्वप्रथम लोकमन को ही आंखों में लगाने के लिये दिया जाने लगा। एक दिन अचानक आंखों में गंधोदक लगाते हुये लोकमन खुशी से झूम उठा जब उसने अपनी आंखों से भगवान महावीर की प्रतिमा के दर्शन किये।

*सह-प्राध्यापक इतिहास, शासकीय महाविद्यालय, रहली – जिला सागर (म. प्र.) पिन– 470227

इसके अतिरिक्त तीर्थ क्षेत्र की प्राचीनता, अद्वितीय विभिन्न स्वरुप में प्रतिपादित तीर्थंकर प्रतिमाएँ, अनुपम कलाकृतियां व कुछ अन्य मनोरम रचनायें जो कि नगर के बाहर वीरान जंगल में प्रकृति द्वारा सुरक्षित और संरक्षित रही इसे भी एक अतिशय ही कहा जा सकता हैं।

ऐतिहासिकता

अतिशय क्षेत्र 1000 वर्ष से अधिक प्राचीन है। 800 वर्ष तक का इतिहास कुछ प्रतिमाओं पर उत्कीर्ण प्रशस्ति से प्रमाणित है जबकि कुछ प्रतिमायें लगातार पूजित होने से घिस गई है। सभी मंदिरों का निर्माण एक साथ एक निश्चित समयावधि में नहीं बल्कि अलग-अलग समय में हुआ। श्री गिरधारी रायकवार लिखते हैं कि "रहली में पंद्रहवी ई. में जैन मंदिर था तथा उन्नीसवीं सदी ईसवी तक प्रमुख मंदिर के इर्द गिर्द अनेक छोटे छोटे मंदिरों का निर्माण किया जाता रहा है[3]।

"मंदिरों के निर्माण का श्रेय किसी एक व्यक्ति या परिवार को नहीं दिया जा सकता। पी. राघवन लिखते हैं कि "जैन साहूकारों द्वारा मंदिरों का निर्माण कराया गया[4]। सभाग्रह में चित्रांकित भित्तियों के मध्य अंकित दोहे सेठ नारायणदासजी व उनकी धर्मनिष्ठ मॉ केशरबाई को क्षेत्र रचना का श्रेय देते है।

जी.एल.रायकवार लिखते है – भित्ति चित्रों से चित्रांकित सभाभवन का निर्माण सेठ नारायण दास जी की धर्मनिष्ठ माता केशरबाई ने अपने निजी व्यय से करवाया था[5]। "पं. खूबचंद जैन" 'पुष्कल' ने भी अपनी कृति "श्री दिगंबर जैन अतिशय क्षेत्र पटनागंज का परिचय" में की [6] । भित्ति चित्रों में सिंघई लोकमन, नारायणदास, भगवानदास, केशरबाई श्री पांडे जैचंद आदि के नामों का उल्लेख भी किया गया है। गंध कुटीर (मंदिर नं. 3) का निर्माण 1967 का है जबकि तीनमूर्ति मंदिर का निर्माण गत दो तीन वर्ष पुराना ही है। नवीन चौबीसी का निर्माण जारी है। इस तरह अतिशय क्षेत्र सतत् निर्माण और जीर्णोद्धार के दौर से गुजर रहा है।

अतिशय तीर्थ क्षेत्र की संरचना

समूचा क्षेत्र एक वृहदाकार चौकोर परकोटे के अंदर बनाया गया है जिसमें 30 भव्य मंदिरों का समूह है। चहुँमुखी द्वार से सुसज्जित इस क्षेत्र का वर्तमान मुख्य प्रवेश द्वार पश्चिम की ओर है। यह क्षेत्र मेहराबनुमा चंद्राकार तोरण तथा किनारों पर गुंबदाकार प्रतिमा प्रकोष्ठों से सुसज्जित है। चौबीस तीर्थंकरों के क्रमशः मंदिर स्थापित हैं मुख्य द्वार से प्रवेश के साथ ही सर्वप्रथम शांतिनाथ भगवान के मंदिर से दर्शन प्रारंभ होते है जो क्रमशः गर्भालय नंदीश्वरद्वार रचना के पश्चात सभाभवन से गुजरते हुए फिर क्रमशः प्रथम तीर्थंकर आदिनाथ से लेकर चौबीसवें तीर्थंकर महावीर स्वामी की सौम्य वीतरागता लिये मनोहारी प्राचीन प्रतिमाओं के दर्शन चक्राकार रुप में निर्मित मंदिरों में होते हैं। पमंदर के मध्य वृहत आंगन से चौबीसी का स्पष्ट दृश्य देखा जा सकता है। जिसके दक्षिण में आदिनाथ भरत बाहुबली की प्रतिमाओं से प्रतिष्ठित नव निर्मित तीन मूर्ति मंदिर है। तो वहीं पश्चिम में पूर्वदिशोन्मुख "बड़े बाबा" का मंदिर अवस्थित है। चौबीस तीर्थंकर मंदिरों से जोड़े रहता है। मंदिरों में प्रतिष्ठित तीर्थंकर प्रतिमाएं अत्यंत प्राचीन तथा धातु तथा पाषाण की है जो कि प्रशस्तियुक्त है। जिनमें सबसे प्राचीन प्रतिमा तीर्थंकर मुनिसुव्रत नाथ की है। क्षेत्र के इर्द–गिर्द तीन धर्मशालाएं निर्मित हैं जिनमें एक साथ लगभग 3-4 हजार यात्रियों को ठहराया जा सकता है। प्रवेश द्वार के पूर्व क्षेत्र पर ही एक कार्यालय है जहां पर मैनेजर समेत कर्मचारी 24 घंटे उपस्थित रहते हैं तथा यहीं एक बहुत बड़ा आंगन है यहां पर समय समय धार्मिक अनुष्ठान आयोजित किये जाते हैं।

विशिष्ट अतिशय व क्षेत्र की धरोहरें

वैसे प्रत्येक मंदिर और प्रतिष्ठित प्रतिमाएं अपनी ऐतिहासिकता लिये हुये है। इनमें भी कुछ प्रमुख धरोहरें इस प्रकार हैं :

महावीर स्वामी की विशाल प्रतिमा

अतिशय क्षेत्र में प्रतिष्ठित प्रतिमाओं में भगवान महावीर की सबसे विशाल और अद्वितीय पद्मासन प्रतिमा है जो लगभग 13½ फुट ऊंची तथा 10½ फुट चौड़ी है। भू तल से प्रतिष्ठित सिंहासन को प्रतिमा के साथ जोड़ दिया जाए तो यह प्रतिमा लगभग 20 फुट ऊँची दिखाई देती है। ऐसा प्रतीत होता है कि पूर्व में कभी शिखर आकार में यहां एक कठोर चट्टान रही होगी जिसे शिल्पकार ने अपने कला कौशल से उसे सौम्य वीतरात प्रतिमा का स्वरुप दिया। चूंकि इस विशाल प्रतिमा का स्थानांतरण करना असंभव रहा होगा इसलिये यहीं नागर शैली में शिखर मंदिर का निर्माण किया होगा। भगवान महावीर का वर्ण जिनागम अनुसार कंचन है। शिल्पकार द्वारा निर्मित प्रतिमा का वर्ण भी कंचन ही है। प्रतिमा का विशाल आकार होने के कारण इन्हें श्रद्धालु "बड़े बाबा" नाम से संबोधित करते है। "बड़े बाबा" के समक्ष अग्रभाग में पूर्वदिशान्मुख कंचन वर्ण में ही भगवान महावीर की एक और पद्मासन प्रतिमा विराजमान है। यह प्रतिमा भी समकालीन है एक ही शिल्पकार द्वारा रचित है एक प्रकार की इस प्रतिमा को देखकर ऐसा प्रतीत होता है, कि

यहां पूर्व में एक नहीं बल्कि एक ही प्रकार की दो चट्टानें उपलब्ध रहीं होगी। उक्त प्रतिमा की ऊँचाई–चौड़ाई क्रमशः 4×5 है। इन्हें श्रद्धालु "छोटे बाबा" नाम से संबोधित करते हैं। प्रतिमा के आसपास या नीचे प्रशस्ति उत्कीर्ण न होने की वजह से इसकी प्राचीनता को अंकित करना असंभव है लेकिन प्रतिमा को देखने से इसकी प्राचीनता का अनुमान लगाया जा सकता है। यह लगभग 800 वर्ष प्राचीन है।

सहस्त्रफणी क्षेत्र सहित पार्श्वनाथ की प्रतिमा

1899 ई0 में निर्मित यह तेईसवें भगवान पार्श्वनाथ की प्रतिमा इस क्षेत्र का गौरव और अद्वितीय धरोहर है। यह 1. 25 मीटर ऊँची तथा 0.75 मीटर चौड़ी है। उक्त प्रतिमा की अद्भुतता ऐतिहासिकता और आकर्षण उसकी वीतराग सौम्य मुद्रा से तो है ही लेकिन मुख्य पहचान प्रतिमा के प्रभावशाली भाग पर समहसस्त्रफणी निर्मित अनुपम छत्र है। फगमंडप का संयोजन दीपमालिका की भांति पंक्तिबद्ध रुप मणीबद्ध होते हुए दृष्टव्य है। इस शिखर मंदिर में पदमासन में विराजमान समस्त्रफणी छत्र से युक्त दो वृहत आकार की प्रतिमायें है जबकि नौ फणों वाली दो अन्य पदमासन प्रतिमाएं भी प्रतिष्ठित हैं। क्रम में शीर्ष पर प्रतिष्ठित एक पार्श्वनाथ प्रतिमा पर शीर्ष भाग के चतुर्दिक मंडलाकार सर्पफणों की शृंखला दोनों भुजाओं तक अर्द्ध चंद्राकार रुप में आवृत्त है जबकि क्रम में उसके नीचे प्रतिष्ठत दवितीय पार्श्वनाथ प्रतिमा के शीर्ष पर सहस्त्रफणों का एक मंडप अर्द्ध वृत्ताकार 3 में कंधों तक ही आवृत है। उक्त प्रतिमाएं ही विश्व ऐतिहासिक सांस्कृतिक धरोहरों में अपनी अद्वितीय पहचान बनाये हुये है और क्षेत्र का गौरव है। इस स्वरुप में यह संपूर्ण विश्व में अकेली और अनोखी प्रतिमा है जिसके कारण ही यह इस तीर्थ क्षेत्र को राष्ट्र की धर्म तीर्थ मुख्य धरा से जोड़ा जाना चाहिये। विद्वानों का यह मत तर्क संगत प्रतीत नहीं होता कि दोनों प्रतिमाओं में अंतर शिल्पकार की अकुशलता या पाषाण की अनुपलब्धता के कारण है। जबकि ऐसा माना जा सकता है कि शिल्पकार ने अपनी कला कौशल और विविधता के दोनों प्रतिमाओं में प्रकृति चित्रांकित करने का प्रयास किया है। यह उसकी अद्भुत कला और रचनात्मक परिकल्पना को प्रमाणित करता है[7]।

सहस्त्रकूट चैत्यालय

यह तीर्थ क्षेत्र में सातवां मंदिर है। जो लगभग 700 वर्ष प्राचीन है। इसमें एक ही गुंबदाकार चट्टान में चारों तरफ 1008 अरहंत प्रतिमाएं चित्रांकित है। इसकी ऊंचाई 8 फुट है, जबकि व्यास 32 फुट है। शिल्पकार ने इन अरहंत मूर्तियों को खड़गासन और पदमासन दोनों स्वरुपों में बनाया है। सहस्रकूट के अतिरिक्त गोलाई में ही दीवार के मध्य में दो पार्श्वनाथ भगवान की पाषाण प्रतिमाएं विराजमान है जिनका वर्ण काला है। दर्शनार्थियों को दर्शन करने में असुविधा न हो इसलिए प्रवेश और निकास द्वार अलग अलग है। इनको निर्मित करने के पीछे मंदिरों के तारतम्य को बनाये रखने का प्रयास किया गया है। अद्भुत कला का प्रतीक यह चैत्यालय तीर्थंकर मंदिरों के बीच इसकी अपनी पृथक पहचान है। यह चैत्यालय भी अद्वतीय है जो संपूर्ण विश्व में इकलौता है।

नंदीश्वर द्वीप और पंचमेरु की रचना

सभाभवन और गर्भालय के मध्य एक 20×20 के मंदिर में नंदीश्वर दृवी कृत्रिम रचना की गई है। जिनागम में नंदीश्वर द्वीप एवं पंचमेरु का अपना एक विशेष महत्व है।

"मोक्ष प्राप्ति हेतु जाते समय तीर्थंकर जिन तीन लोकों के विभिन्न स्थलों में विश्राम करते हुए, आगे बढते हैं, मध्य लोक के जम्बूद्वीप से आठवें क्रम पर नंदीश्वर द्वीप स्थित है।" इस अंनत आकाश के मध्य कमर पर हाथ रखे पुरुष आकार

की एक सुंदर रचना है जिसे लोकाकाश अथवा "लोक" कहते है। इसके तीन भाग हैं उर्ध्वलोक, मध्यलोक, अधोलोक। मध्यलोक में असंख्यात द्वीप समूह है जो परस्पर घेरे हुए है। मध्यलोक के बीचों बीच जंबूद्वीप है, इसके चारों ओर लवण समुद्र उसके पश्चात धातकीखंड द्वीप है"। इसकी चारों दिशाओं में 52 अकृत्रिम जिन चैत्यालय (मंदिर) हैं। देव यहां पूजन हेतु जाते हैं। मनुष्य चूंकि यहां नहीं जा सकता इसलिए वह भावना के स्तर पर उन 52 अकृत्रिम जिन चैत्यालयों में विराजमान जिनबिंबों की आराधना करते हैं। जिन आठ दिनों में देव वहां जाकर पूजन करते हैं उन्ही आठ दिनों को जिनागम में अष्टानिका पर्व कहा जाता हैं।

जिनागम में मेरु अर्थात सुमेरु पर्वत का भी विशेष महत्व है। ये संख्या में पांच हैं अतः इन्हें पंचमेरु कहते हैं। ऊपर बताया जा चुका है कि मध्यलोक के बीचों जंबूद्वीप है। इसी जंबूद्वीप में मध्य में सुदर्शन मेरु है। घातकीखंड द्वीप के पर्व में मंदर मेरु एवं पश्चिम में विदयुन्माली मेरु है। इस प्रकार सुदर्शन, विजय, अचल, मंदर, विदयुन्माली ये पांच मेरु है। प्रत्येक पर्वत पर 16-16 की गणनानुसार कुल 80 अकृत्रिम जिन चैत्यालय है[9]। प्रत्येक क्षेत्र से संबंधित तीर्थंकरों के जन्मकल्याणक महोत्सव के प्रसंग पर बाल तीर्थंकर को उस क्षेत्र संबंधी मेरुपर्वत पर ले जाकर उनका अभिषेक होता हैं।

उपर्युक्त तथ्यों के कारण ही नंदीश्वर द्वीप और पंचमेरुओं को अन्य क्षेत्रों एवं रचनाओं से वैशिष्ट्य है। इन दोनों रचनाओं की अनुकृति के रुप में इस मंदिर का निर्माण हुआ है। इस मंदिर का निर्माण काल ई0 1892 है। "वर्तमान में नंदीश्वर द्वीप की रचना आकर्षक–सुन्दर और भव्यता लिए मढ़िया जी जबलपुर और खनियाधाना में देखी जा सकती है परंतु जिस समय इस क्षेत्र में यह रचना की गई उस काल में यह कल्पना कठिन थी।"

गंध कुटीर

तीर्थक्षेत्र में मंदिर क्रमांक तीन को "गंध कुटी" नाम से जाना जाता है। जो कि तीन प्रदक्षिणा आकार में निर्मित है। यह 15 फुट ऊंची तथा 15×15 लंबी चौड़ी है। इसका निर्माण 1967 में वधिवा जगरानी पति श्री नंदराम चौधरी (ग्राम बरखेरा सिकंदर) द्वारा कराया गया था। इस कुछी का महत्व इसलिए भी माना जाता है क्योंकि इसके मध्य में स्थापित स्तंभ पर चारों ओर से शीशा जड़ित सिंहासन प्राचीतनम प्रतिमा बीसवें तीर्थंकर मुनिसुव्रतनाथ की प्रतिष्ठित थी। जिस पर उत्कीर्ण प्रशस्ति से ज्ञात होता है कि इसका निर्माण काल विक्रम संवत 1472 है। वर्तमान में उपरोक्त प्रतिमा को स्थानांतरित कर गर्भालय में प्रतिष्ठित कर जैन संत आचार्य विद्यासागर महाराज की आज्ञानुसार इस पुरातन धरोहर (गंधकुटली) को मिटाकर नया स्वरुप दिया जा रहा है। स्थानांतरित गंधकुटी नविनिर्माण योजना प्रस्तावित है।

भित्ति चित्र

तीर्थ क्षेत्र में भित्ति चित्रों का चित्रांकन समकालीन सामाजिक, धार्मिक और संस्कृतिक अवधारणा को प्रस्तुत करते हैं। यह भित्ति चित्र जैन धर्म से संबंधित पौराणिक आख्यानों को परिभाषित करते हैं जो कि तीर्थ क्षेत्र के क्रमशः दो मंदिरों पार्श्वनाथ मंदिर और नंदीश्वरद्वीप मंदिर तथा एक सभा भवन में चित्रित है। इस सभा भवन का निर्माण सेठ नारायण दास की धर्मनिष्ठ माता केशरबाई ने अपने निजी व्यय से कराया था। यह चित्र उपवन दरबार, राजभवन, व्यक्तिगत चित्र, नायक नायिका नृत्य से संबंधित है। चित्रों के मध्य कुछ दोहे भी है जिनमें कुछ व्यक्तियों के नामों का उल्लेख है। यथा सिंघई लोकमन, भगवानदास आदि। सभा भवन के भित्ति चित्र आकार में विशाल है। यहां के अधिकांश चित्र धूमिल हो चुके हैं तथा कुछ स्थानों पर मिट गये हैं। नंदीश्वर जिनालय की ऊपरी दीवारों पर अंकित भित्त चित्र अधिक स्पष्ट हैं। पार्श्वनाथ मंदिर के चित्र पूर्णतः समाप्त हो चुके हैं। इन चित्रों में सफेद, लाल, नीला, पीला, हरा, बैगनी तथा आसमानी आदि रंगों का प्रयोग किया गया है। कुछ चित्रों में पृष्ठभूमि प्रभावोत्पादक है। सभी चित्र एक चश्म माप के हैं इन चित्रों में पारंपरिक आभूषण, केश विन्यास, परिधान तथा नृत्य संगीत की स्पष्ट छाप देखी जा सकती है। चित्रकार ने नारी सौंदर्य की अभिव्यक्ति में स्थानीय सौंदर्य को प्रधानता प्रदान की है।

उपरोक्त के अतिरिक्त उक्त क्षेत्र में मंदिरो का निर्माण जारी है। प्रथम तीर्थंकर आदिनाथ और भारत बाहुबली की प्रतिमा से प्रतिष्ठित एक नवीन शिखर मंदिर "तीनमूर्ति" की रचना की गई जो कि काफी सुंदर हैं। इसी क्रम में एक नवीन चौबीसी का निर्माण किया जा चुका है जिनमें मूर्तियों की प्रतिष्ठा होना शेष है। जो कि निकट भविष्य में पंचकल्याणक महोत्सव के साथ प्रतिष्ठा कार्यक्रम योजना प्रस्तावित है।

उपसंहार

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि जैन धर्मावलंबियों का यह 30 मंदिरों का भव्य समूह दिगंबर जैन अतिशय क्षेत्र पटनागंज प्राचीन एवं सांस्कृतिक धरोहर है जो कि अपनी विशिष्ट कलाकृतियों, शैलियों व अद्वितीय तीर्थंकर प्रतिमाओं के कारण सुप्रसिद्ध है। चूंकि इन मंदिरों का निर्माण एक साथ न होकर अलग अलग समयावधि में हुआ जिसके निर्माण काल भी अलग-अलग रहे हैं, यही कारण है कि इन मंदिरों में विविधता विद्यमान है। पदमासन और खड़गासन स्वरुप में प्रतिष्ठित प्रतिमाएं पाषाण की है और श्याम, श्वेत तथा कंचन वर्ण से विभोर हैं। वास्तुशास्त्र और जिनागम पद्धति को यत्र तत्र ही उपयोग में लाया गया है। मंदिरों के मध्य आंगन में शिव मूर्तियों की स्थापना समकालीन धार्मिक साहिष्णुता का अनूठा उदाहरण है। चौबीस तीर्थंकरों की प्रतिमाओं से प्रतिष्ठित चौबीस मंदिरों के अतिरिक्त सहस्रकूट चैत्यालय, नंदीश्वर द्वीप की रचना, गर्भालय, गंधकुछी, तीन मूर्ति इत्यादि रचनाएं अतिशय क्षेत्र को चार-चांद लगाती है। जैन धर्म के आख्यानों को प्रदर्शित करते भित्ति चित्र समकालीन चित्र शैली को प्रतिबिंबित करते हैं। नित दैनिक यहां स्थानीय जैन श्रावक पूजा अर्चना करते हैं। दीपावली, दशलक्षण पर्व, अष्टाआंहिका पर्व, महावीर जयंती सहित तीर्थंकरो की जन्म जयंती इत्यादि कार्यक्रम बड़े ही उल्लास और जिनागम के अनूकूल मनाये जाते हैं। क्षुल्लक पूज्य गणेश प्रसाद वणी द्वारा 1944 में प्रारंभ जीर्णोद्धार कार्यक्रम तथा वार्षिक मेले का आयोजन की प्रथा वर्तमान में भी जारी है। पुरातत्व विभाग की धरोहर होने के कारण शासन और प्रशासन का संरक्षण तो इसे प्राप्त है ही साथ ही इसके संरक्षण हेतु जैन धर्मानुयायियों का एक ट्रस्ट शासन द्वारा पंजीकृत है। वर्ष भर यहां यात्रियों का आना जाना लगा रहता है। क्षेत्र के इर्द गिर्द आकर्षक तीन धर्मशालाएं निर्मित हैं। साधु संतों का आगमन बराबर बना रहता है। इसके बावजूद भी उपरोक्त विशिष्ट अद्वितीय प्राचीनतम सांस्कृतिक धरोहर आज इसलिए श्रद्धालुओं और भारत तथा विश्व के पर्यटकों की बाट जोह रही हैं क्योंकि यह भव्य तीर्थ क्षेत्र राष्ट्र की धर्म तीर्थ क्षेत्र मुख्य धारा से वंचित है। यदि इसे राष्ट्र की मुख्य धारा से श्रेणीबद्ध किया जा सके तो हम इस प्राचीन सांस्कृतिक धरोहर को राष्ट्र व अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर महिमामंडित कर पाने में सफल हो सकेंगे।

संदर्भ सूची

1. डॉ. भारिल्ल, हुकमचंद, : महावीर और उनका सर्वोदय तीर्थ, प्रकाशक – पं. टोडरमल स्मारक भवन, जयपुर, पृ. 20–24.
2. कृष्णन , ब. सु. : मध्यप्रदेश जिला गजेटियर सागर, जिला गजेटियर विभाग, मध्यप्रदेश भोपाल पृ. 525–26
3. रायकवार जी. एल. : रहली का सूर्य मंदिर 1984, संचालनालय, पुरातत्व एवं संग्रहालय, भूपाल. पृ. 34
4. राघवन पी. : सागर विरासत और विकास 1992. शारदा पब्लिसिंग हाऊस, नई दिल्ली, पृ 75
5. रायकवार, जी एल पूर्वोक्त, पृ.36
6. जैन खूबचंद : 1008 श्री दिगंबर जैन अतिशय क्षेत्र पटनागंज,
7. रायकवार, जी एल पूर्वोक्त, पृ 35

8–9. आचार्य उमास्वामी : मोक्षशास्त्र (तत्वार्थ सूत्र) अध्याय तीन एवम् बंसल, अखिल : जिनेंद्र अर्चना, 1995, नंदीश्वर द्वीप व पंचमेरु की पूजन लेखक पं. ध्यानतराय जी। प्रकाशक पं. टोडरमल स्मारक भवन जयपुर पृ. 143 से 149

8

भारत रत्न बिसमिल्लाह खाँ - एक परिचय

*—संतोष अग्रवाल**

कहा जाता है कि "होनहार बिरवान के होत चिकने पात" ये पंक्तियाँ बिसमिल्लाह जी के जीवन पर अक्षरशः सत्य सिद्ध होती हैं। तभी एक बार मामा की भविष्यवाणी कि "एक दिन बिसमिल्लाह प्रसिद्ध शहनाईवादक बनेगा" आज साक्षात-सत्य दृष्टिगोचर हैं।

बिसमिल्लाह खाँ का जन्म बिहार के शाहबाद जिले में डूमराउं गांव में पैगंबर बक्श के घर 21 मार्च, 1916 को हुआ था। माता का नाम मिठ्ठा था। बाबा रसूलबक्श खाँ भोजपुर में राजदरबार के शहनाई नवाज थे। पिता भी बिहारी जी के मंदिर में रोजाना शहनाई बजाया करते थे और वहाँ के कुछ आने मिलते थे जिससे घर का खर्च चलता था। बालक बिसमिल्लाह के जन्म पर भगवान के धन्यवाद में 'बिसमिल्लाह' कहा और बाद में इन्हें बिसमिल्लाह ही कहा जाने लगा। आपके भाई शमसुद्दीन के क्रम में आपका नाम कमरुद्दीन रखा गया।

शहनाई आपको विरासत में ही मिली थी। जब आप छोटे ही थे तो तालाब के पास जा कर नरंकट में हवा चलने से आती आवाज को सुना करते थे।

तीन साल की आयु में अपने भाई एवं माँ के साथ नाना के घर गए। नाना रजतअली और मामा अलीबक्श दोनों ही पक्के शहनाईवादक थे। पड़नाना रमजानअली थे। आपका पालन-पोषण एवं संगीत शिक्षा नाना के घर पर ही हुई।

घर पर भी रियाज करने के लिए मामा ने कमरे निर्धारित कर रखे थे। एक कमरे में मामा अलीबक्श और दूसरे में विलायतअली रियाज करते थे। बिसमिल्लाह खाँ का मन कभी पढ़ाई में न लगा। शहनाई ही आपकी जीवनचर्या का साधन बनी।

मंच पर प्रस्तुति का आरंभ आपने 14 वर्ष की आयु में ही कर दिया था। वास्तव में एक बार छोटे मामा को इलाहाबाद संगीत सम्मेलन में शहनाई वादन का निमंत्रण मिला। उस सम्मेलन में बहुत से प्रसिद्ध संगीतज्ञ भाग ले रहे थे। छोटे मामा जाने की पूरी तैयारी में थे कि छोटे बिसमिल्लाह खाँ ने रोना शुरू कर दिया। क्योंकि वह अपने गुरू से अलग नही रहना चाहते थे।

अतः मामा का दिल बदल गया और वे अपने साथ बिसमिल्लाह को ले गए। संमेलन में अलीबक्श ने राग केदार का आलाप शुरू किया और एक नई ही बंदिश शुरू की। मामा ने भानजे के साथ बजाने से मना कर दिया। विद्यार्थी बिसमिल्लाह अपने मामा द्वारा इच्छानुकल बजाई जा रही बंदिश को सुन रहा था। आपके द्वारा पुनः बंदिश को प्रस्तुत किया गया किंतु उसमें वर्जनाए (बास) अलग थी। श्रोताओं ने इसको बहुत अधिक पसंद किया और इतनी तालियाँ बजी कि जितनी उस समय प्रसिद्ध संगीतज्ञ उस्ताद फैयाज खाँ आफताबे मौसिकी को मिला करती थी। उस समय शहनाई को संगीत का एक प्रसिद्ध वाद्ययंत्र नहीं माना जाता था। किंतु युवक बिस्मिल्लाह की शहनाई बजने तक फैयाजखाँ रुके रहे और अंत में उन्होंने अलीबक्श से कहा कि "माशाल्लाह इसे संभाल के रखिएगा, इसकी शहनाई से पूरे जहान की खुशबू आती है"।

महान संगीतज्ञ के ये शब्द आपके प्रेरणास्रोत बने और शिक्षण का प्रथम चरण आपका पूरा हुआ। यह युग महान संगीतज्ञों का था और बिस्मिल्लाह को जब भी अवसर मिलता वे उस्ताद अब्दुल करीम खाँ की "भैरवी" जरूर सुनते थे। अब्दुल जी की आवाज महिला की आवाज जैसी थी जो कि नायिका भेद के लिए एकदम उपयुक्त। एक ऐसी आवाज जो परमात्मा से मिलने के लिए व्याकुल। अतः बिस्मिल्लाह अब्दुल जी के संगीत से अदर्शनीय रूप से बंध गए थे। इसकी अनुभूति स्वयं जब हुई जब कि बिस्मिल्लाह अब्दुल जी की "वार्षिक शोक सभा" में मालकौंस पेश करते हुए अब्दुल जी की उपस्थिति श्रोताओं में अनुभव करते रहे। इसके साथ ही श्रोताओं ने भी बिस्मिल्लाह के माध्यम से अब्दुल जी की आवाज को ही जीवंत समझा।

इसी प्रकार उस्ताद फैयाज खाँ, पं0 ओंकार नाथ, हाफीज आली खाँ और इनायत खाँ ने भी बिस्मिल्लाह को प्रभावित किया।

16 वर्ष की आयु में बिस्मिल्लाह जी की 1932 में अपने बड़े मामा सादिक अली की लड़की से शादी हो गई। शादी का यह निर्णय उनके बुर्जुगों का था। आपकी पत्नी संगीत से बिल्कुल अनभिज्ञ थी तथा नितांत सरल स्वभाव की थी। 50 वर्ष का अपना लंबा विवाहित जीवन आपने इनके साथ बिताया। इस महिला से असीम प्यार पाया। अजमेर शरीफ का बहाना बनाकर बनारस जा रहे थे तभी रास्ते में पत्नी की मृत्यु हो गई। इस दुर्घटना को आपने पाप समझा तथा अल्लाह का शुक्रिया किया। इस घटना को छोड़कर आप सदैव एक निष्ठावान पति के रूप में सिद्ध हुए । आपके नौ संताने हुई। अपने सदैव अपने उस्ताद के आदर्शो को अपनाया।

इसी संगीत के जरिए आपने सर्वोतम सत्ता को पाया है। आपका जो कुछ हैं वह संगीत के ही कारण हैं। इसी कारण आपका संगीत आत्मा की आवाज बन कर स्वरलहरियों में गूजंता है।

अख्तरीबाई फैजाबादी, जो कि बाद में बेगम अख्तर के नाम से प्रसिद्ध हुई, आपकी शिक्षक रही । बेगम अख्तर की आवाज के आप दीवाने थे। एक बार की घटना है कि शादी के बाद आप लेटे हुए थे कि आधी रात को आपने बेगम अख्तर की आवाज किसी रिकार्ड प्लेयर पर सुनी। आवाज में इतनी संजीदगी थी कि आपके मन से वाह-वाह की अचानक ही आवाज निकल पड़ी।

संगीत के नशे में आर्विभूत कर देने वाली बेगम अख्तर की आवाज को सुन कर जहां खान साहब भाव-विभोर थे वहीं आपकी पत्नी संगीत से नितांत अपरिचित होने के कारण इस वाह-वाह का कारण जानना चाहती थी। किंतु खान साहब ने सपाट शब्दों में कहा कि आप से जाएँ। तब तक आपकी पत्नी आपके संगीत प्रेम को इतना नहीं समझती थी। अगले दिन आपने वह रिकार्ड खरीदा और उसे बार-बार सुना। सन् 70 के आरंभ में बेगम अख्तर, जिन्हें आप अम्मी कहते थे, दिल्ली आई और नरूला होटल में ठहरी। अम्मी ने फोन पर खान साहब से बात की। शाम के मिलने का समय निश्चित हुआ। खान सहाब भी दिल्ली नैना देवी के साथ कार्यक्रम देने के लिए आए हुए थे। नैना देवी दिल्ली में ही विनय मार्ग पर रहती थी। विवाह शाही परिवार में होने से इनके घर की सजावट शाही थी जो कि हर छोटी वस्तु से झलकती थी।

नैनादेवी के घर पर ही मीटिंग तय हुई। नैनादेवी एवं खाँन साहब ने बेगम अख्तर के सामने ही प्रैक्टिस की तो बेगम साहब हैरान होकर बोली कि नैनादेवी इतना कठिन कार्य कैसे कर सकती है किंतु खान साहब ने हौसला अफजाही की तथा कहा कि कार्यक्रम में वह अपनी आवाज धीमी रखे। वास्तव में खान साहब की पिच का कोई सानी नहीं था। बेगम अख्तर तथा खान साहब एक दूसरे के पर्णतया प्रशंसक थे।

दूसरे अखिल भारतीय संगीत सम्मेलन में खान साहब ने अपने उस्ताद अली बक्श के साथ भाग लिया और स्वर्ण पदक प्राप्त किया। 1937 में पुनः अखिल भारतीय संगीत सम्मेलन में अपने श्रोताओं को मंत्रमुग्ध किया। इस बार आपके भाई शमसुद्दीन साथ थे। इस बार भी आपको तीन स्वर्ण पदक प्राप्त हुए। इसी से आपकी राष्ट्रीय स्तर पर ख्याति हुई। एक कलाकार के रूप में आपकी पहचान 16 अप्रैल, 1938 को अखिल भारतीय रेडियो, लखनऊ के खुलने के अवसर पर आपके शहनाई वादन कार्यक्रम से ही हो गई थी।

खान साहब शिया मुस्लिम हैं और प्रतिदिन पांच बार नमाज अदा करते हैं। यद्यपि मुसलमानों में संगीत हराम है किंतु खान साहब अपनी शहनाई को ही "कुरान" मानते हैं। खान साहब का मानना है कि जो शहनाई या संगीत मन को इतनी शांति दे वह 'हराम' कैसे हो सकता है। आपके इन स्पष्ट प्रश्नों को सुनकर मौलवी भी चुप हो जाते थे। मोहरम के दिनों में आप आज तक भी 30 दिन के रोजा रखते हैं किंतु मोहरम के आठवें दिन मौलवियों को विरोध दिखाने के लिए बनारस की तंग गलियों से संगीत बजाते हुए एक जलसा निकालते हैं तथा शहीद इमाम हुसैन के दरवाजे पर पहुँचते है। वहाँ वह घंटों बैठकर शहनाई बजाते-बजाते रो पड़ते हैं जबकि

जनता कुछ पैसे चढ़ाकर अपना फर्ज पूरा कर लेती है। आप "इल्म" भी अदा करते हैं। संगीत आपके लिए किसी देवता से कम नहीं है और रसूल भी स्वयं संगीतमय अजान को सुनकर प्रेरित होते हैं। आपका यह अजान भी साधना की चरम सीमा है।

यद्यपि पिछले 70 वर्षों में एक बार भी ऐसी अवसर नहीं आया था कि खान साहब ने नमाज न अदा की हो किंतु एक बार पंडित रविशंकर द्वारा संगीत सम्मेलन आयोजित किया गया और उसमें सभी संगीतज्ञ शामिल हुए। उस्ताद अमजदअली खान भी उसमें शरीक हुए। अमजद अली चूंकि एक बड़े घराने से ताल्लुक रखते थे अतः घराने की इज्जत का अहम सवाल उनके सामने था। रात्रि के अंतिम प्रहर में अमजद साहब ने अपने समारोह पर 'ललित ध्वनि' राग में दो मध्यमा 'शुद्ध और तीव्र' लगाते हुए बजाना शुरू किया। अमजद साहब के सच्चे सुर को सुनकर खान साहब नमाज पढना ही भूल गए। इस घटना से खान साहब की नए कलाकारों की हौसलाअफजाही का पता चलता हैं।

खान साहब महाराज बिरजू महाराज के पिता श्री एवं चाचा शंभु महाराज के समकालीन रहे हैं। शंभु महाराज एवं बिरजू महाराज दोनों ही कथक के महान कलाकार रहे हैं। बिरजू महाराज को समय-समय पर खान साहब की सानिध्य व आशीर्वाद मिलता रहा। किसी संगीत सम्मेलन में दोनों मिलकर बहुत खुश होते थे। कहा जाता है कि बनारस ऐसा शहर है जहां गंगा बहती है और वहीं गंगा आंखों के जरिए भी बह निकलती हैं। तभी तो सिद्धेश्वरी देवी ने खान साहब के बारे में कहा था- कि बिस्मिल्लाह लकड़ी चबा के रूला देता है। बिस्मिल्लाह खाँ के मुख में "राग" और "सुर" की झलक शहनाई वादन के समय स्पष्ट दिखाई देती है। खान साहब पान के शौकीन हैं और वह भी बनारसी पान के। सिगरेट पीने की भी आपकी आदत है।

1947 में भारत आजाद हुआ। भारतीय संगीत की धूम योरोप के देशों एवं अमेरिका में खूब थी। जिसके फलस्वरुप भारत की मध्यवर्गीय श्रेणी में भी भारतीय पारंपरिक संगीत के प्रति रूचि बढ़ी। इसी कारण मौलाना अब्दुल कलाम आजाद के प्रस्ताव को केंद्र सरकार ने स्वीकार किया तथा भारतीय सांस्कृतिक संबंध परिषद् की स्थापना की। खान साहब का प्रारंभिक विदेश गमन परिषद् द्वारा प्रायोजित अफगानिस्तान कार्यक्रम का था। वहाँ आपके संगीत से प्रभावित होकर अफगानिस्तान के राजा जैरशाह ने अनेक अमूल्य पारसी गलीचे उपहार स्वरूप दिए।

1965 में खां साहब एडिनबरा उत्सव एंव कॉमनवेल्थ कला उत्सव में गए। इस उत्सव में अन्य महान कलाकार यथा पं. रविशंकर, विलायत खां, शांता प्रसाद एवं किशन महाराज आदि ने भी भाग लिया। यह प्रतिनिधि मंडल संगीत नाटक अकादमी के श्री के.एस. कोठारी के नेतृत्व में गया था।

अभी तक खान साहब ने हवाई जहाज से यात्रा कभी नहीं की थी। हवाई जहाज से जाना आप खुदा के उसूल के खिलाफ मानते थे। अतः उत्सव में जाने के लिए भी आपने हवाई जहाज से न जाने की शर्त रखी। कोठारी साहब ने किसी तरह खान साहब को रजामंद किया। अंततः आप जाने को सहमत हो गए पर एक शर्त पर कि साथ ही हज भी जाएंगे जो कि किसी भी मुसलमान के लिए एक बहुत ही प्रसन्नता एवं पाक की चीज है। हवाई जहाज़ में बैठने का अनुभव भी खान साहब का अजीबोगरीब था। चूँकि हवाई जहाज में बैठते ही सीट बेल्ट बंधते ही आपके गले की आवाज रूंध गई तथा आपने कुरान की आयतें पढ़ना शुरू कर दिया। किसी तरह कोठारी साहब ने समझाया। हवाई यात्रा पूरी हुई। आज यह स्थिति है कि हर तीसरे दिन खान साहब को हवाई यात्रा करनी पड़ती है।

खान साहब के अमेरिका में लिंकन सेंटर हॉल में भी अपनी कला का प्रदर्शन करने का अवसर मिला। यह सम्मान किसी भी भारतीय के लिए बड़े फक्र की बात है। "जुगल बंदी" के भी खान साहब माहिर हैं। किंतु "जुगल बंदी" करते समय आप कभी गंभीर नहीं होते अपितु ऐसे समय पास करने का साधन मानते हैं। यह जुगलबंदी आपने प्रसिद्ध वायलिन वादक श्री वी.जी. जोग एवं प्रसिद्ध गायिका गिरिजा देवी तथा उस्ताद विलायत खान साहब के साथ प्रस्तुत की। किंतु खान साहब की प्रस्तुति सदैव आत्मा के मिलन की और थी अतः गिरिजा देवी द्वारा अपनी चैती "चढ़हला चैत चित ना लगे रामा" की जब रिकार्ड में प्रस्तुति की जा रही थी तो खान साहब कुछ भी बजा न सके। चूंकि इस समय दिल दिमाग कहीं और था। यह इस और संकेत करता है कि खान साहब सांसारिक मोह माया से ऊपर हैं इसीलिए तो सांसारिक सुखों की आपको चाह नहीं है और आपके घर में बिल्कुल ही सादगी से रहते है। साज सज्जा का नामोनिशान नहीं हैं।

जुगलबंदी का एक ही रिकार्ड ऐसा उपलब्ध है जिसमें खान साहब ने अपनी तकनीक का प्रदर्शन किया। वह है प्रसिद्ध सितारवादक, उस्ताद हलीम जफर खान। फिर भी खान साहब ने अपने साथी का सदैव सम्मान किया। किंतु आपके एकाकी पल में ही वास्तविक लय व सूर से भरपूर संगीत के स्वर सुनाई देते हैं।

आज शहनाई घर-घर की पहचान बन गई है। बच्चा-बच्चा बिस्मिल्लाह खान की शहनाई से परिचित हैं। बड़े-बड़े घरानों में तो शादी-विवाह में व्यक्तिगत रूप से शहनाई वादकों को आमंत्रित किया जाता हैं। परन्तु संगीत की गुणवत्ता वाला ही उसे पहचान सकता हैं।

खान साहब का परिवार काफी बड़ा है। आपके पाँच पुत्र श्री महताब हुसैन, नैय्यर हुसैन, जमीन हुसैन, काजिम हुसैन और नजीम हुसैन है। नजीम हुसैन अवविाहित है। शेष चारों के क्रमशः 4,8,9,2 संताने हैं। आज आपकी आयु 85 को पार कर गई है। किंतु शहनाई बजाते समय आज भी आप थकते नहीं। वर्ष 2000 में भारत सरकार ने भारत के सबसे बड़े सम्मान "भारत रत्न" से आपको नवाजा है।

◆

9

भारत में प्रजातंत्र का उद्‌भव और विकास : एक सिंहावलोकन

—डॉ. अनिल जैन*

आधुनिक विश्व की तीन महान क्रांतियां यथा, 1773 का अमेरिकी स्वतंत्रता संग्राम, 1789 की फ्रांसिसी क्रांति तथा 1917 की रुसी क्रांति से विश्व में प्रजातांत्रिक भावना व शासन व्यवस्था के रुप के प्रजातंत्र की नीव तैयार हुई। अमेरिकी स्वतंत्रता संग्राम से जहां शासन, प्रशासन व नागरिकों में राजनीतिक स्वतंत्रता व व्यक्तिगत स्वतंत्रता का बीजारोपण हुआ वहीं फ्रांसिसी क्रांति से स्वतंत्रता, समानता एवं बंधुता जैसे मूलभूत प्रजातंत्रीय सिद्‌धांत प्रतिफलित हुए। आर्थिक समानता का संदेश रुसी क्रांति से सामने आया। राजतंत्र, कुलीन तंत्र और अधिनायकतंत्र जैसी शासन व्यवस्था से संचालित विश्व व्यवस्थाओं से नागरिक अधिकारों और स्वतंत्रताओं के अतिक्रमण की परकाष्ठा ने नागरिकों के चेतन मन को सामूहिक कर "जनता के शासन" की ओर इंगित किया।

ब्रिटेन को "संसद की जननी" कहा जाता हैं। यूरोप में यहीं से प्रजातंत्र की भावना का संचार हुआ। राजा जॉन द्‌वारा लागू 1215 का मैग्नाकार्टा अधिनियम जो कि नागरिकों के अधिकारों से संबंधित था इसका प्रमाण है। इस दृष्टि से यूरोप को प्रजातंत्र का अग्रदूत कहा जा सकता है। 1832, 1867, 1885 और 1911 के सुधार अधिनियम इस तथ्य को और भी पुष्ट करते है। अमेरिकी प्रजातंत्र का विकास भी इंग्लैंड के पथ प्रदर्शन में ही हुआ। यद्‌यपि इंग्लैड में प्रजातंत्र का विकास पहले से हो रहा था और अमेरिका में फ्रांस से पहले ही इसकी स्थापना हो चुकी थी फिर भी फ्रांस की राज्य क्रांति को प्रजातंत्र के विकास में सबसे महत्वपूर्ण स्थान दिया जात है। इसका कारण यह था कि फ्रांस में जो राज्य क्रांति हुई उसका असर सर्वव्यापी हुआ और सारे यूरोप के राज्य सिंहासन हिल उठे। सन् 1830 में यूरोप में एक देश व्यापी विद्रोह की आग धधक उठी। आस्ट्रिया, नीदरलैंड, यूनान, हंगरी, पोलैंड आदि देशों में प्रजातंत्र के विरुद्‌ध प्रबल आंदोलन उठ खड़े हुए। इस प्रकार 19 वीं सदी के आरंभ से आज तक प्रजातंत्रवाद की शक्ति बढ़ती गयी। 20 वीं सदी में जर्मनी, रुस तुर्की, और अस्ट्रिया के साम्राज्यों का अंत हो गया और उनकी जगह प्रजातंत्र ने ले ली। पौलेंड, चेकोस्लोवाकिया, यूगोस्लाविया, इस्थोनिया, लिथुआनिया, अजरबैजान, जार्जिया आदि देश प्रजातंत्र के अनुगामी हुए। इस आंदोलन की लहर इतनी बढ़ी कि आज सारा संसार प्रजातंत्रवाद की भावनाओं से ओत-प्रोत है।[1]

डा. प्रभुदत्त शर्मा भी लिखते हैं – "बीसवीं शताब्दी के तानाशाहों की हार को लोकतंत्र की विजय कहने वाले आज के युग को प्रजातंत्र का युग कहा जाता हैं।[2]

प्रजातंत्र एक विस्तृत दृष्टिकोण

बहुधा प्रजातंत्र को राजतंत्र, कुलीनतंत्र आदि पद्‌धतियों की विरोधी पद्‌धति मान लिया जाता है। इस धारणं में विश्वास करने वालों के लिए प्रजातंत्र का अर्थ हो जाता है एक ऐसा राज्य जहां राजा अथवा कुछ व्यक्तियों के स्थान पर प्रजा का शासन हो। 19 नवंबर, 1863 को अमेरिकी गृहयुद्‌ध में पृथकतावादी शक्तियों पर विजय पाने के उपरांत अपने संबोधन भाषण में प्रजातंत्र की सराहना करते हुए तत्कालीन अमेरिकी राष्ट्रपति, डॉ. अब्राहम लिंकन ने जो शब्द कहे आज वही प्रजातंत्र की सर्वव्यापी परिभाषा मानी जाती है। उन्होने कहा था – "प्रजातंत्र जनता का, जनता के लिए और जनता द्‌वारा शासन है।" उन्होंने आगे कहा कि – " जिस देश के लोग अपने हितों की रक्षा के लिए स्वयं अपना शासन करते हैं उस देश की शासन प्रणाली को प्रजातंत्र कहते है।[3]

उक्त परिभाषा की स्वीकारोक्ति के साथ यह भी स्वीकार करना पड़ता है कि राजतंत्रीय और कुलीनतंत्रीय शासन में प्रजातंत्र की स्थापना हो ही नहीं सकती किंतु आज के विश्व में ऐसे उदाहरण प्रस्तुत है, जहां राज्य राजतंत्रात्मक है। इंग्लैड विश्व का एक ऐसा ही अनूठा राज्य है। इससे सिद्‌ध होता है कि – "प्रजातंत्र तथा राजतंत्र में विरोध नहीं हैं।"

वास्तव में प्रजातंत्र से तात्पर्य प्रजातंत्रीय शासन से नहीं वरन् एक ऐसे राज्य शासन तथा समाज से है जिसमें उद्‌योग, रहन-सहन, व्यवसाय, धार्मिक, सामाजिक और राजनीतिक समानता और भ्रातृभाव विद्‌यमान हो। देश की सर्वोच्च सत्ता चाहे वंश परंपरागत राजा के हाथ में हो चाहे कुलीन अथवा धनिकों के हाथ में किंतु यदि उस देश की प्रजा को मानवीय स्वतंत्रता तथा समानता के अधिकार प्राप्त है, उसे स्वयं निर्मित विधान के अंतर्गत अपनी इच्छानुसार अपने आध्यात्मिक और नैतिक विकास की पूर्ण सुविधाएं है, प्रशासन में उसे अपनी योग्यतानुसार भाग लेने का अधिकार है और उसकी इच्छाओं का महत्व है तथा शासक विधिनुसार शासन करता है तो वह देश प्रजातंत्र कहा जायेगा। प्रजातंत्र की इस भावना को ही प्रजातंत्र से वास्तविक अभिप्राय मान लेने पर प्रजातंत्र एक ऐसी शासन प्रणाली बन जाती है जिसके दर्शन हम राजतंत्र-कुलीन तंत्र आदि विभिन्न प्रणालियों में भी कर सकते हैं।

पं. नेहरु भी लोकतंत्र को एक शासन प्रणाली व राजनीतिक निकाय तक ही सीमित नहीं रखना चाहते थे। अपने व्यापक दृष्टिकोण के तहत उनके लोकतंत्र का संबंध समग्र रुप से संपूर्ण सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक और सांस्कृतिक था।[4]

उनका कहना था कि – "नागरिकों को केवल राजनीतिक स्वतंत्रता देना ही पर्याप्त नहीं है। उन्हें अवसरों की समानता दी जानी चाहिए तथा आर्थिक विषमताओं का अंत किया जाना चाहिए। सामाजिक कलुष और घोर आर्थिक असमानताओं से पूर्ण समाज कभी लोकतांत्रिक नहीं हो सकता।[5]

भारत में लोकतंत्र का बीजारोपण

15 अगस्त, 1947 को भारत एक संपूर्ण प्रभुत्व संपन्न लोकतांत्रिक गणराज्य के रुप मे विश्व मानचित्र पर स्थापित हुआ। ब्रिटिश उपनिवेश काल में भी भारत में प्रजातंत्र के अंकुर थे। डा. सुभाष कश्यप भारतीय प्रजातंत्र को लगभग 3000 वर्ष प्राचीन मानते हैं। उनके अनुसार भारत में लोकतंत्र का इतिहास बहुत पुराना है। उसकी जडें ईसा से कम से कम 3000 वर्ष पूर्व वैदिक काल तक जाती है। प्रतिनिधिक संस्थाओं और लोकतांत्रिक सिद्‌धांतों का प्रथम निरुपण ऋग्वेद और अथर्ववेद में मिलता है और बाद में महाभारत, शुक्राचार्य के नीतिसार, बौद्‌ध साहित्य, कौटिल्य के अर्थशास्त्र आदि में।" वह आगे लिखते हैं – "यूनान के प्रथम लोकतंत्रात्मक नगर राज्यों से कितनी ही सदियों पूर्व, भारत में गणराज्यों का जाल बिछा हुआ था। कह सकते हैं कि भारत ही लोकतंत्र का पालना रहा है।[6] डॉ. उर्मिला मिश्र लिखती है- जिस समय यूनान अपनी क्षमता का विकास कर रहा था और वहां के नगर राज्यों के राजनीतिक क्षेत्र में प्रजातंत्र के परीक्षण चल रहे थे उस समय वैदिक कालीन भारत में स्वतंत्रता और समानता के आधार पर समान नागरिकता प्रदान करने वाले प्रजातांत्रिक राज्य स्थापित हो चुके थे। जितना स्वस्थ राजनीतिक चिंतन भारत में फला-फूला उतना विश्व के किसी भी राष्ट्र में संभव नहीं हुआ।[7]

डॉ. जायसवाल के अनुसार - "गणराज्यों का उदय प्रारंभिक वैदिक काल तथा राजतंत्र के बाद उत्तर वैदिक काल में हुआ है।[8] यहां गणतंत्र को प्रजातंत्र इसलिए कहा जा सकता है क्योंकि इनमें शासन की सर्वोच्च शक्तियां राजतंत्र की तरह किसी एक व्यक्ति में न होकर किसी गण अथवा परिषद के हाथ में होती थी जिनकी संख्या भिन्न भिन्न रहती थी, क्योंकि इसका अपना विशेष रुप था और उसके संगठन और निर्वाचन की निजी प्रणाली थी।[9]

उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट है कि भारत में प्रजातंत्र का बीज वैदिक काल में बोया गया था। उत्तर वैदिक काल में अंकुरित हुआ और आज एक वट वृक्ष के रुप में अस्तित्व में है। इसके विस्तृत विवेचन के लिए क्रमवार विश्लेषण की आवश्यकता है इसके लिए अग्रांकित बिंदुओं का चयन किया गया है। जो इस प्रकार है :

1. आदिकाल में प्रजातंत्र

जनसंख्या की बिखरी हुई बसावट, राज्य के आकार की विविधता, संचार साधनों के अभाव एवं जातीय-वर्गीय सामाजिक व्यवस्था के व्यवहार के कारण आदिकालीन भारत में प्रजातंत्र की भूमि तैयार नही हो सकी। डॉ. बेनी प्रसाद लिखते हैं कि – "जाति व्यवस्था ने कुलीन तंत्र को भी सरकार के एक रुप का स्तर प्राप्त न करने दिया।[10] अर्थात् इस काल की समकालीन परिस्थितियों ने प्रजातंत्र एवं कुलीन तंत्र के विपरीत राजतंत्र को अपनी शासन व्यवस्था का आधार बनाया।

2. वैदिक काल : प्रजातंत्र का अंकुरण उत्तरवैदिक

वैदिककाल को दो भागों में विभाजित किया जा सकता है। एक प्रारंभिक वैदिक काल जिसमें ऋग्वेद की रचना का उल्लेख है और दूसरा उत्तर वैदिक काल जिसमें शेष तीनों वेद यथा यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद सहित ब्राहमण ग्रंथ, उपनिषद ग्रंथ, सूत्र ग्रंथ, वेदांग और उपवेद आदि की रचना हुई। वैदिक साहित्य एक ऐसा स्रोत है जिसमे यह प्रमाणित होता है कि भारत में अति प्राचीन काल में स्वस्थ राजतीतिक चेतना विदयमान थी।

ऋग्वेद काल में शासन व्यवस्था के रुप में राजतंत्र के प्रमाण मिलते हैं। डॉ. हरिश्चंद्र शर्मा लिखते है कि इस समय सामंतवादी प्रवृतियाँ उभरने लगी थी। यहां राजन शब्द का प्रयोग कुलीन पुरुष के अर्थ में किया गया।[11] डॉ. जायसवाल भी लिखते हैं कि – प्रारंभिक वैदिक साहित्य में केवल राजतंत्र का ही उल्लेख किया गया है। यह इसलिए हुआ होगा क्योंकि वैदिक युग के आरंभ में केवल राजाओं के द्वारा ही शासन हुआ करता था। वैदिक युग के बाद यह शासन व्यवस्था छोड़ दी गई तथा भिन्न भिन्न स्थानों में प्रजातंत्रात्मक शासन व्यवस्था को अपनाया गया।

उत्तर वैदिक कालीन साहित्य प्रजातंत्रीय शासन के पुख्ता प्रमाण प्रस्तुत करता है। ड्रेकमीयर के अनुसार संपूर्ण भारत में राजतंत्री संस्थायें थी, परंतु ऐतरेय ब्राह्मण में संकेत मिलता है कि उत्तरी भारत के महत्वपूर्ण भाग मे गणतंत्रीय शासन था। जायसवाल ने इस विषय में लिखा है कि- "भारत में गणतंत्रीय पद्धति राजतंत्र के बहुतवाद और पूर्व वैदिक के बाद आई। इसका उल्लेख उत्तर वैदिक कालीन साहित्य में मिलता है- ऋग्वेद के ब्राह्मण ऐतरेय में, यजुर्वेद में और उसके ब्राह्मण तेत्तरिय में।

वैदिक साहित्य में राजा के निर्वाचन का उल्लेख मिलता है।[12] प्रजा जनता या विशः राजा का वरण करती थी और सब लोगों द्वारा स्वीकार किये जाने के पश्चात ही राजा के निर्वाचन पर पक्की मोहर लगती थी। राजा अपने पद पर तभी तक रह सकता था जब तक उसे अपनी प्रजा का विश्वास प्राप्त होता था। इसलिए अथर्ववेद में कहा गया है कि :-

"विश्वस्ता सर्वा का कन्तु मान्वद्राष्ट्रमहिमषत्।"

राजा के निर्वाचन से ही इस युग में प्रजातंत्रीय पद्धति का सूत्रपात माना जा सकता है। अथर्ववेद के अनुसार राज्य के शासन कार्य में सहायता देने के लिए 'गण' थे। 'गण' शब्द का प्रयोग ऋग्वेद में 40 बार तथा अथर्ववेद में 1 बार और ब्राह्मणों में कई स्थलों में प्रयुक्त हुआ।[13] गण का मुख्य अर्थ- "समूह, राज्य अथवा बहुत से लोगों के द्वारा होने वाला शासन।[14] गण शब्द से संसदीय व्यवस्था का बोध होता है। गण जनता का एक ऐसा समूह था जो सभा के रुप में कार्य करता था 'गण' जैसे जनात्मक प्रजातंत्र के अंतर्गत 'सभा' और समिति' नामक दो संस्थायें थी।15 जो ईश्वर कृत थी। "पितर" (राजनीतिक अनुभवी व्यक्ति) सभा के सदस्य होते थे जो भाषण देने का कार्य करते थे। प्रजातंत्र में वयोवृद्ध के विचारों को शासन में यथोचित स्थान था। उनकी सलाह मान्यता रखती थी क्योकि उनमें जीवन भर का अनुभव जुड़ा रहता था तथा इनसे राजनीतिक सुरक्षा की अपेक्षा की जाती थी। 'समिति' संपूर्ण विश्व की प्रतिनिधि संस्था थी जो वैदिक कालीन राजा का वरण, पदच्युति, पुनर्वरण करती थी। इस समय दो संस्थाओं 'विदर्भ' और "सेना" का भी उल्लेख मिलता है। विदर्भ-यज्ञ, यज्ञादि विषयक शुद्ध धार्मिक कृत्य करती थी जबकि सेना का कार्य देश की रक्षा करता था। इस प्रकार उत्तर वैदिक काल में कार्यपालिका, व्यवस्थापिका और न्यायपालिका (सभा) प्रजातंत्र के तीनों अंगों का उल्लेख मिलता है।[16]

3. महाभारत में प्रजातंत्र

रामायण और महाभारत काल को महाकाव्य काल कहा जाता है। रामायण के मुख्य राज्यों मिथिला, अयोध्या, किष्किंधा और लंका में राजतंत्रात्मक शासन व्यवस्था थी।[17]

महाभारत के शांति पर्व में गणसंज्ञक शासन का उल्लेख आता है जो उस समय प्रचलित थे। भारत का उत्तरी पश्चिमी भाग उस काल में इस प्रकार के राज्यों से परिपूर्ण था। महाभारत में मुख्यतया 5 गणों का उल्लेख है – अंधक, बृहमिण, यादव, कुकुर और भोज, जिन्होंने एक संघ के अंतर्गत अपने आपको संगठित किया था। इस संघ के मुख्य कृष्ण थे, जिन पर उन सबके अभ्युदय का भार था। शांति पूर्व के अध्याय 107 के अनुसार -यहां गण से तात्पर्य संपूर्ण राजनीतिक समुदाय अथवा संसद से है, केवल शासक समूह से नही।

शांति पूर्व में नारद और कृष्ण का संवाद गणराज्यों के संबंध में दिया हुआ है। इस संवाद में इस प्रकार का वर्णन प्राप्त है कि अंधक-वृष्णि गणराज्य के अध्यक्ष पद की प्राप्ति हेतु उग्र संघर्ष हो रहा था। इस गणराज्य में कई राजनीतिक दल थे जिनमें प्रत्येक दल अपने नेता को राज्य का अध्यक्ष बनाने के लिए प्रयत्नशील था। इस वर्णन के आधार पर यह विदित होता है कि इन गणराज्यों में अध्यक्ष पद के लिये निर्वाचन होता था। इसी राज्य में सुधर्मानाम की सार्वजनिक सभा का भी उल्लेख मिलता है जिसमें जनतंत्रात्मक राज्य के सिद्धातों के अनुसार कार्य संचालन होता था।

4. जैन धर्म में प्रजातंत्र

जैन धर्म के ग्रंथ में – "दोरिज्जाणी" एवं "गणरायणी" शब्दों का उल्लेख मिलता है। पहले शब्द का प्रयोग उन राज्यों के लिए किया जाता था जिनमें दो शासक शासन करते थे और दूसरे शब्द का प्रयोग उन राज्यों के लिए किया जाता था जिनमे गण या समूह का शासन होता था। डॉ. जायसवाल के कथनानुसार ये शासन प्रणाली के व्याख्यात्मक शब्द है। अर्थात महावीर के शासन काल में गणतंत्रात्मक व्यवस्था का प्रचलन था यह स्वयं सिद्ध है।

5. बौद्ध धर्म में प्रजातंत्र

ईसा से 600 वर्ष पूर्व बुद्ध के समय में भी भारत में प्रजातांत्रिक राज्यों की संख्या का उल्लेख मिलता है जिनमें मप्रमुख थे- शाक्य लिच्छवि, विदेह, मल्ल, कोलि, मोमि, बुली, भर्ग। इनमें वृजि और मल्ल सबसे प्रमुख थे। बुद्ध वृजि संघ के संगठन को बहुत पसंद करते थे। मल्ल संघ आधुनिक गोरखपुर जिले में था। वृजि संघ की राजधानी वैशाली के खंडहर मुजफ्फर जिले में है। बुद्ध ने स्वयं वृजियों की परिषद और उनके वृजि (राष्ट्रीय) कार्यों तथा (राष्ट्रीय नियम और संस्थाओं) का उल्लेख किया है।

पाणिनि और कौटिल्य ने भी बृजियों का उल्लेख किया है। जातक एक कथा में लिच्छिवियों की राज्य व्यवस्था का वर्णन किया गया है जिसमें लिच्छवि शासकों को गण शासक अथवा प्रजातंत्री शासक कहा गया है। लिच्छवि कुल 7707 की संख्या में थे। ये सभी मिल कर अपना राजा, उपराजा तथा सेनापति चुनते थे।[18] एक बौद्ध ग्रंथ में लिखा हुआ है 'उन लोगों (वैशाली कला) में सब लोग अपने को राजा समझते है। सब कहते हैं कि मैं राजा हूं, मैं राजा हूं। कोई किसी का अनुगामी नहीं होता। इससे स्पष्ट है कि राज्य सभाओं में सभी लोगों को बोलने तथा मत देने का प्रायः समान रुप से अधिकार था और प्रत्येक व्यक्ति इस बात के लिये लालायित रहता था कि अब की बार में राजा बन जाऊँ।"

श्री रामचंद्र वर्मा लिखते है – महात्मा बुद्ध का जन्म ऐसे लोगों में हुआ था जो प्रजातंत्र का भोग करते थे। उनके चारों ओर पास पड़ोस में संघ ही थे और वे उन्हीं में पले थे। उन्होंने जिस वर्ग या समाज की स्थापना की थी उसका नाम भिक्षुओं का प्रजातंत्र रखा था।[19]

6. पाणिनी में प्रजातंत्र

पाणिनी का समय ई. पू. 500 के लगभग माना जाता है। उन्होने 'संघ' शब्द की वैज्ञानिक व्याख्या कर समकालीन लोगों की प्रजातंत्र के प्रति दृढ़ आस्था को प्रकट किया है। समिति के अनुसार संघ एक पारिभाषिक शब्द है जिससे राजनीतिक संघ का अभिप्राय सूचित होता है अथवा जैसा कि स्वयं उसने कहा है, वह गण या प्रजातंत्र है। संघ में ब्राह्मण-क्षत्रिय तथा अन्यान्य जातियों के लोग होते।

पाणिनी-संघों को आयुधजीवी एवं कौटिल्य शास्त्रों में परजीवी नाम से संबोधित करते है। कुछ आयुधजीवी अर्थात् प्रजातंत्र इस प्रकार है – वृक, दामनि, कोडोपरच, दांडकी, कौष्ट, जालमानि, ब्राह्मगुप्त, जानकी, यपौधेय, पर्व, भद्रा,

वृजि, राजन्य, अंधक बृहिणी, महाराज और अर्ग आदि।

7. कौटिल्य के अर्थशास्त्र में प्रजातंत्र

कौटिल्य के अर्थशास्त्र में संघों को दो भागो में विभाजित किया है। पहले वे जिनके शासक राजा की उपाधि धारण करते थे। ऐसे संघ हैं यथा, लिच्छिविक, बृजिक, मल्लक, मदूक, कुकट, कुरु, पंचाल आदि। और दूसरे वे है जिनमें शासकों के लिए राजा की उपधि धारण करने का कोई नियम नहीं था और वे अपने शासकों को राजा की उपाधि नहीं धारण करने देते थे। ऐसे संघ थे यथा कांबोज, सुराष्ट्र, क्षत्रिय, श्रेणी आदि।[20]

8. यूनानी चिंतन एवं साहित्य में भारतीय प्रजातंत्र

जिस समय सिकंदर ने भारत वर्ष पर आक्रमण किया उस समय अनेक प्रजातंत्र राज्य इस देश में मौजूद थे। उसका इतिहास लिखने वाले यूनानी इतिहासकारों ने इस समय के प्रजातंत्र को "स्वाधीन" "स्वराज्यभोगी" और "स्वतंत्र" आदि शब्दों से संबोधित किया है। जिससे इसका अभिप्राय प्रजातंत्र से ही था।[21] स्ट्रबों के लेखानुसार कथई जाति में जो सबसे सुंदर होता था वही राजा चुना जाता था। अस्द्रेस्तई, सौभूति, छटक, मालव, शिवि, अगीमनेई (अग्रश्रेणी) अस्पष्ट, ममिकानि, वृचमनोई, महल आदि कितने ही प्रजातंत्रीय राज्यों का उन्होंने उल्लेख किया है। यूनानी जगत का प्रथम यात्री जिसने चंद्रगुप्त मौर्य के शासन काल में न केवल भारतीय वसुंधरा पर कदम किया है कि "वैदिक युग के उपरांत भिन्न-भिन्न स्थानों में प्रजातंत्रात्मक शासन की स्थापना हो गयी थी उन्होंने शासन प्रणाली के स्वरुप के विचार से देश को दो भागों में विभक्त किया – "वे लोग जहां राजा होता है वहां, सब बातों की सूचना राजा को देते हैं, जहां लोग स्वाधीन होते है, अपना शासन आप करते हैं, वहां मजिस्ट्रेटों-स्थानीय अधिकारियों को सूचना देते है [22]। यूनानी लेखकों के अनुसार प्रस्तुत प्रजातंत्रीय राज्यों में राजा या सभापति का अस्तित्व था जो निर्वाचित होता था। शासनाधिकार वृद्धों अथवा ज्येष्ठों की एक सभा जिसे "पहल" कहा जाता था उसमें निहित होती थी। उन्होनें 'गण' शब्द के प्रचलन को 'प्रजातंत्र' का ही अभिप्राय बताया।

उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट है कि वैदिककाल से 5 वीं ईसवी शताब्दी तक भारत में जनतंत्रात्मक शासन पद्धति प्रचलित रही है। यहां 'गणतंत्र' शब्द का उपयोग किया गया है जो आधुनिक प्रजातंत्र के अर्थ से भिन्न है लेकिन उक्त गणतंत्रो को डॉ. जायसवाल समेत अनेक विद्वान प्रजातंत्र ही रेखांकित करते है। प्रो अल्तेकर लिखते हैं [23] –

"इसमें संदेह नहीं कि आजकल प्रजातंत्र और लोकतंत्र का जो अर्थ है उस अर्थ में तो प्राचीन भारत के गणराज्य लोकतंत्र नहीं कहे जा सकते। आधुनिक काल के अधिकांश उन्नतिशील लोकतंत्र राज्यों की भांति प्राचीन भारत के इन गण राज्यों में शासन की बागडोर सामान्य जनता के हाथ में न थी। फिर भी हम इन्हें प्रजातंत्र या गणतंत्र कह सकते है राजतीति के प्रामणिक मूल ग्रंथों के अनुसार प्रजातंत्र राज्य वह है जिसमें सर्वोच्च शासन अधिकार राजतंत्र की भांति एक व्यक्ति के हाथ में एक समूह, गण या परिषद के हाथ में हो, जिसके सदस्यों की संख्या चाहे कम हो या अधिक।"

"ब्रिटिश काल में भारतीय प्रजातंत्र"

प्राचीन भारतीय साहित्य के संदर्भ में इस बात की पुष्टि होती है कि प्राचीन भारत में प्रजातांत्रिक संस्थाओं एवं शासन सत्ता का अस्तित्व था। लेकिन मध्य काल में यह स्वस्थ राजनीतिक परंपरा अपने स्वरुप में न रह सकी बल्कि मध्य युग के आरंभ के साथ ही प्रजातांत्रिक संस्थाओं का विकास अवरुद्ध देखा गया। डॉ. सुभाष कश्यप लिखते है[24] –

"मध्ययुग में आकर हमारी लोकतांत्रिक संस्थाओं का विकास अवरुद्ध हो गया। इसके बाद सैकड़ों वर्षों तक हम आपसी लड़ाइयों और विदेशी शासकों की गुलामी में जकड़े रहे। शासक बदलते रह सेनाओं के बीच युद्ध होते रहे, सेनाएं हारती-जीतती रही, किंतु इन सबके बीच भी राष्ट्र का जीवन आम लोगों का रहन सहन लगभग ज्यों का त्यों चलता रहा। देश के एक कोने से दूसरे कोने तक सिंध और राजस्थान से असम तक और कश्मीर से कन्याकुमारी तक इस देश की पुरानी सभ्यता और परंपरा का सिलसिला अटूट बना रहा, सामाजिक सांस्कृतिक जीवन की मूलधारा अवरुद्ध न हो सकी।"

ब्रिटिश तख्तो ताज के बीच भारतीय उपनिवेश में प्रजातंत्र की आवाज यत्र-तत्र गूंजती रही। कांग्रेस की स्थापना

प्राचीन भारतीय प्रजातंत्रों की सूची

क्र.	नाम	क्र.	नाम	क्र.	नाम	क्र.	नाम	क्र.	नाम
1	अंगक्षेणी	18	पहल	35	केरल पुस्त	52	नाभक	69	शलडकायन
2	अंधक	19	पर्श्व	36	मीस	53	मीस	70	शिवि
3	अंलष्छ	20	पांचाल	37	कौडिमस्य	54	नेपाल राज्य	71	शूद्र
4	अंध्र	21	पितिनिक	38	कौष्हिकि	55	पुष्यमित्र	72	सतियपुत
5	अरट अरिष्ट	22	पुलिंद	39	क्षत्रिय	56	प्रस्थल	73	सल्वत
6	अबंदी	23	कठ	40	शांपिंडिनिकायण	57	प्राजुर्न	74	सनकानीत
7	क्षद्रक	24	करपट	41	सुराष्ट	58	बुली	75	सष्टिक
8	कौडयरथ	25	काक	42	सौभूर्ती	59	ब्राह्याणक	76	लिच्छिवि
9	गंधार19	26	कांबोज	43	मौधेक	60	ब्राह्यणक	77	वसति
10	गोपालव	27	कुकुर	44	राजन्य	61	मगल	78	वामरथ
11	ग्लोचुकायनक	28	कुणिंद	45	चिक्कलिनिकाय	62	भर्ग	79	विदेह
12	आभीर	29	कल्ल	46	जानकि	63	भोज	80	बृक
13	आर्जुनायन	30	महाराज	47	जालमानि	64	भद्र	81	वृजि
14	औदुबर	31	मालव	48	त्रिगर्त	65	मौडिक	82	वृष्णि
15	अत्तरकुरु	32	मुचुकर्ण	49	दक्षिण मल्ल	66	मौन		
16	उत्तरमद	33	मालव	50	दांडिकि	67	शाक्य		
17	उत्सवं संकेत	34	कुरु	51	दामिनि	68	शायंड		

के पूर्व 1 नवंबर, 1858 को महारानी की यह घोषणा की "प्रजा के धार्मिक जीवन में किसी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं किया जायेगा तथा ऊपर से कोई धार्मिक विचार नही थोपा जायेगा। सभी के साथ समान व्यवहार और निष्पक्ष न्याय की स्थापना के साथ ही सरकारी नौकरियों में जाति परंपराएं, धर्म आदि का विभेद नहीं किया जायेगा। 25 प्रजातांत्रिक भावना के विकास में एक महत्वपूर्ण कदम था। बाद में 1861 का अधिनियम जिसके अनुसार भारतीयों को विधान परिषदों में नियुक्त करने की व्यवस्था की गयी थी भारत में प्रतिनिधिक संस्थाओं का बीजारोपण माना जा सकता है।[26]

कांग्रेस की स्थापना के साथ ही भारतीयों की भारत में एक व्यवस्थित प्रजातंत्र की मांग विकसित हुई। उदारवादी नेतृत्व से प्रजातंत्र की मांग का सूत्रपात हुआ। उदारवादियों का उद्देश्य ब्रिटानी राज्य के अंतर्गत ही प्रजातंत्र की ओर अग्रसर होना था।[27] उनकी नीतियां भारत की स्वाधीनता के लिये नहीं, बल्कि उपनिवेश के ही रुप में भारतीय नागरिकों को अधिक अधिकार दिये जाने के पक्ष में थी। उनकी धारणा थी कि ब्रिटेन के साथ संपर्क बनाये रखने से भारतीयों की बौद्धिक प्रतिभा चमकेगी, भावी दृष्टिकोण विकसित होगा और भारत के भावी निर्माण का मार्ग प्रशस्त होगा। संवैधानिक साधनों के माध्यम से ही ब्रिटिश ध्वज के तले भारतीयों को लोकतांत्रिक अधिकार, स्वतंत्रता, समानता, न्याय व प्रशासन व शासन में लोकतंत्र को स्थापित करने का पक्ष उनकी नीतियों से स्पष्ट था। उदारवादियों की इस मांग को समानता मिली कि विभिन्न संस्थाओं में नामजदगी के स्थान पर सदस्यों का निर्वाचन किया जाये।

"1909 का मार्ले-मिंटो सुधार अधिनियम उदारवादियों और उग्रवादियों की मांगों का प्रतिफल था। जिसके द्वारा विधान परिषदों की सदस्य संख्या बढ़ा दी गयी। उसमें निर्वाचित सदस्य शामिल करने की व्यवस्था की गयी। प्रांतीय

परिषदों में गैर सरकारी सदस्यों को बहुमत प्रदान किया गया।"

1919 और 1935 के भारतीय शासन अधिनियम भारतीय प्रजातंत्र की दिशा में उल्लेखनीय कदम थे। प्रांतों में द्वैध शासन की स्थापना के पश्चात केंद्रीय स्तर पर द्वैध शासन की स्थापना विधानपरिषदों में सदस्यों की संख्या में वृद्धि, निर्वाचन एवं सदस्यों को मतदान वाद-विवाद करने के अधिकार के साथ प्रजातंत्र के संचालनार्थ संस्थाओं और सिद्धांतों को प्रतिपादित करने का प्रयास किया गया। 1935 के अधिनियम के 14 भाग, 321 धारायें और 10 अनुसूची बाद में भारतीय संविधान के मुख्य स्रोत बने। संपूर्ण स्वतंत्रता आंदोलन भारत की पूर्ण स्वतंत्रता के लक्ष्य के साथ ही प्रजातांत्रिक मूल्यों और उसकी स्थापना के लिए भी माना जा सकता है। समय समय पर लागू नियम, अधिनियम, प्रतिवेदन और आंदोलन इसमें मील के पत्थर साबित हुये। अंततः 15 अगस्त, 1947 को भारतीय स्वाधीनता के साथ ही भारत में स्वतंत्र और विशुद्ध प्रजातंत्र की स्थापना का मार्ग प्रशस्त हुआ।

"भारतीय संविधान और प्रजातंत्र"

स्वाधीनता के पश्चात जनतंत्रीय आधार पर निर्वाचित 299 सदस्यीय संविधान सभा ने 9 दिसंबर, 1946 से 26 नवंबर, 1949 तक लगभग 15 बैठकें कर 395 अनुच्छेदों का एक दस्तावेज तैयार किया। 26 जनवरी, 1950 को इसे लागू कर इसे राष्ट्र की सर्वोच्च और मौलिक विधि मानते हुये भारतीय गणतंत्र का संविधान नाम संबोधित किया गया। यहॉ संविधान सर्वोच्च है समूची व्यवस्था उसके अधीन है। भारतीय प्रजातंत्र संविधान प्रदत्त व्यवस्था है। जिसमें प्रजातंत्र के तीनों अंगों कार्यपालिका, व्यवसीपका और न्यायपालिका सहित निर्वाचन आयोग के संबंध में विस्तृत उपबंधों का उल्लेख किया गया है। संविधान की प्रस्तावना संविधान की आत्मा है संविधान का दर्पण है। यह भले ही संविधान वेत्ताओं पर अमेरिकी संविधान की प्रस्तावना का आकर्षण था परन्तु इस पर आधुनिक युग की तीन महान क्रांतियों का प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। भारतीय संविधान की प्रस्तावना में पहला स्थान स्वतंत्रता समानता और बंधुता का नहीं प्रत्युत न्याय को दिया गया और फिर न्याय के विविध आयामों सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक न्याय का संकेत दिया गया है।[28]

संविधान में प्रस्तावना की प्रथम पंक्ति भारतीय प्रजातंत्र को परिभाषित करती है। यथा "हम भारत के लोग भारत को एक संपूर्ण प्रभुत्व संपन्न समाजवादी धर्मनिरपेक्ष लोकतांत्रिक गणराज्य बनाने..... ।"

यहां संपूर्ण प्रभुत्व संपन्न "शब्दावली भारतीय प्रजातंत्र को विश्व में विशालता प्रदान करता है। अर्थात् भारत पूर्णरुप से प्रभुता संपन्न राज्य है और कानूनी दृष्टि से न तो उसके ऊपर किसी आंतरिक शक्ति का प्रतिबंध है और न बाहरी शक्ति का आंतरिक क्षेत्र में, यद्पि भारतीय संविधान में संघ तथा राज्यों के बीच शक्तियों का वितरण किया गया है।[29]

"प्रभुता" जनता में निहित है।

स्वतंत्रता, समानता, बंधुता, न्यास, विश्वास, धर्म, उपासना आदि प्रजा अधिकारों का उल्लेख भारतीय संविधान में भाग तीन में विस्तृत किया गया है।[30] वयस्क मताधिकार और निर्वाचन व्यवस्था भारतीय प्रजातंत्र की विशेषताएं हैं। शासन के तीनों अंगों में से कार्यपालिका और व्यवस्थापिका का शक्ति स्रोत संविधान है जबकि इनका निर्वाचन ओर उत्तरदायित्व की अंतिम शक्ति प्रजा को प्रदान की गई है। न्यायपालिका स्वतंत्र और सर्वोच्च है जो उपरोक्त दोनों अंगों पर नियंत्रण रखते हुए संविधान की रक्षा और नागरिकों के मौलिक अधिकारों की सुरक्षा करती है। इसी मीडिया इतना स्वतंत्र नहीं है जितना कि भारत में। प्रजातंत्र रुपी रथ के परिचालन पहिया कहे जाने वाले 'राजनीतिक दलों' का महत्व और संख्या समूचे विश्व की तुलना में भारत में ज्यादा है। समग्र व्यवस्था का अवलोकन किया जाए तो भारत में वह सभी उपबंध संस्थाएं, मूल्य और सिद्धांत अस्तित्व परक है जो कि एक अच्छे प्रजातंत्रीय राष्ट्र के लिये अनिवार्य होती है। अमेरिकी और भारतीय प्रजातंत्र के उदाहरण समूचे विश्व में इसलिए दिये जाते है क्योंकि वह संगठित अध्यक्षीय प्रजातंत्र है और यह विशाल संसदीय प्रजातंत्र है।

निष्कर्ष

उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट है कि भारत में प्रजातंत्र की जड़ें काफी गहरी है। जिसका इतिहास वैदिककाल से प्रारंभ होता है। प्राचीन भारत में जिस प्रजातंत्रात्मक शासन पद्धति को थी। उस समय सामान्य जनता के मताधिकार को कोई महत्व प्रदान नहीं किया गया था। इसके अतिरिक्त अनेक महत्वपूर्ण प्रशासनिक पदों को वंश परंपरागत रखा गया था। राज्य के शासक को राजा कहा जाता था जिसकी शक्ति की तुलना विभिन्न देवी-देवताओं से की जाती थी। राज्य में सामाजिक रुप से निर्वाचन नही होते थे। प्रतिनिधित्व के सिद्धांत का स्पष्ट रूप से विकास नहीं हो पाया था। राजनैतिक दल व्यवस्था के संगठन तथा कार्यप्रणाली का भी किसी प्राचीन भारतीय ग्रंथ में उल्लेख नहीं मिलता है। कोई संगठित राजनैतिक दल न होने के कारण सामान्य जनता अपने मत को इतने प्रभाव पूर्ण ढंग से प्रस्तुत नहीं कर सकती थी कि वह राज्य के निर्णयों को बदल सके। संघ बनाने के अधिकार तथा परंपरा के अभाव में जनता की राजनैतिक चेतना का स्तर अत्यंत निम्न होता था। राजनैतिक कार्यों में उसकी अभिरुचि बहुत कम रहती थी। राज्य की शक्तियां एक वर्ग विशेष अथवा जाति विशेष के हाथें में रहती थी जिनसे यह आशा नहीं की जा सकती थी कि वे समस्त नागरिकों के साथ समानता पूर्ण व्यवहार करेंगे।

इस पृष्ठभूमि में कुछ विचारकों को यह मानना आश्चर्यजनक न होगा कि प्राचीन भारत में प्रजातंत्रात्मक शासन व्यवस्था नहीं थी। ये लोग एक से अधिक व्यक्तियों के प्रशासक होना ही जनतंत्र का प्रतीक नहीं मानते। इनका कहना था कि परिषद में चाहे पांच हजार व्यक्ति हों किंतु ये सभी राज्य के अमीर या उच्च वर्ग के होते थे। जनसाधारण का शासन कार्यों में कोई हाथ न था। साधारण किसान तथा मजदूर का काम तो केवल यह था कि अधिकारी वर्ग द्वारा किये गये निश्चय को माने तथा उसे पूरा करें।

विचारकों का उक्त मत तर्क की दृष्टि से सही प्रतीत होता है किंतु व्यावहारिक दृष्टि से देखने पर यह गलत साबित हो जाता है। प्रजातंत्रात्मक शासन व्यवस्था की मूल आत्मा यह है कि इसमें शासन व्यवस्था को सामान्य जनता के लिए संचालित किया जाये तथा प्रशासनिक शक्तियों पर किसी एक व्यक्ति का एकाधिकार न हो जाये जो कि स्वेच्छापूर्वक अत्याचार करता हुआ शासन को व्यक्तिगत स्वार्थ का साधन बना ले। प्राचीन भारतीय ग्रंथों का अध्ययन करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि भारत में प्रजातंत्र की इस आत्मा का अस्तित्व था। उस समय की परिस्थितियों के अनुसार इसे बनाये रखने के लिए जो संगठनात्मक प्रणाली अपनायी गयी वह आज कि संगठनात्मक व्यवस्था से भिन्न थी किंतु दोनों का लक्ष्य एक ही रहा। अर्थात **"भारत में प्रजातंत्र का निर्माण नहीं विकास हुआ है।"**

स्वाधीनता के पश्चात विकसित प्रजातंत्र के पांच दशकों के बाद आज इसके औचित्य पर समीक्षकों, राजनीतिज्ञों और जन सामान्य की अभिव्यक्ति और लेखनी राष्ट्रीय स्तर पर फलीभूत होती देखी जा सकती है। संसदीय प्रजातंत्र का विकल्प अब अध्यक्षीय प्रजातंत्र की स्थापना में खोजा जाने लगा है। कुछ कहते हैं संसदीय प्रजातंत्र असफल हुआ है। तो कुछ कहते है इसको चलाने वालों ने इसमें विकृतियां ला दी हैं।[31] बीसवीं सदी की अंतिम दशाब्दि में भारतीय राज व्यवस्था का जो असंवैधानिक, अमानवीय और अनैतिक तांडव देखा उसने प्रजातंत्र को राजनैतिक दलों और राजीतिज्ञों के स्वार्थ पूर्ति का एक साधन बना दिया है। जनहित-जनकल्याण से उपेक्षित यह भारतीय प्रजातंत्र आज राजनीतिक अस्थिरता, आर्थिक विषमता, सांप्रदायिकता, क्षेत्रीयता, भाषावाद, जातिवाद, आतंकवाद, राजनीतिक अपराधीकरण, निर्धनता, बेरोजगारी, जनसंख्या विस्फोट जैसी गंभीर समस्याओं का जनक बन गया है। केंद्र और राज्यों के मध्य पारस्परिक संघर्ष, विसंगतियां, अविश्वास और केंद्र की अस्थिरता से उत्पन्न विदेश नीति की दिशाहीनता किसी से छुपी नहीं है। प्रजातंत्र के तीनों अंग प्रजातात्रिक संरचना के प्रतीक तो है लेकिन इनका शासन संचालन उद्देश्य, सिद्धांत और कार्य शैली में प्रजातंत्र को खोजना सिंधु में मोती ढूंढने से कम नहीं है। इक्कीसवी सदी में हमें भारत की समृद्धि, अखंडता, और संप्रभुता की "हम भारत के लोगों" से अपेक्षा तो बनाने की है। जिसका ख्याति और सुदीर्घ विरासत के कारण ही हमारी विश्व में पहचान है और अस्तित्व है।"

संदर्भ

1. डॉ. चौबे, गोरखनाथ – "प्रजातंत्र की ओर" साहित्य भवन लिमिटेड, प्रयाग, पृ. 49.
2. डॉ. शर्मा, प्रभुदत्त : "तुलनात्मक राजनीतिक संस्थायें, 1996. कॉलेज बुक डिपो, जयपुर, पृ. 170.
3. डॉ. पटेल, मनोहर : लेख "भारतीय प्रजातंत्र का भविष्य"

विधायनी, 1993 अगस्त-दिसंबर, पृ. 40.
4. डॉ. शर्मा, शंकर दयाल : लेख – "नेहरू के जीवन और कर्म में लोकतंत्र, विधायनी, 1989, जनवरी-मार्च पृ. 3.
5. डॉ बिल्लौर, डी.के. : लेख -"नेहरु के संसदीय लोकतंत्र की प्रासंगिकता" पूर्वोक्त पृ. 46.
6. डॉ. कश्यप, सुभाष : लेख "लोकतंत्र के 50 वर्ष : कितने सपने साकार और कितने राख"विधायनी, 1998 जनवरी पृ. 23.
7. डॉ. मिश्र, उर्मिला : लेख "वेद और प्रजातंत्र" विधायनी, 1987, दिसंबर, पृ. 6.
8. Dr Jayswal, K.P. : Hindu Polity, p. 21.
9. डॉ. शर्मा, हरिश्चंद्र : "प्राचीन भारतीय राजनीतिक संस्थाएं" कॉलेज बुक डिपो, जयपुर, पृ. 317.
10. Dr. Prasad, Beni : The State in Ancient India, p.3.
11. Dr. Sharma, H. : Idide p. 217-18.
12. अथर्ववेद - 3-4-2 यथा-
"त्वा विशो वुणता, राज्याय त्वामियः प्रदिशः।
पंचदेवीः वर्मन राष्ट्रस्य कुकुदि श्रयस्व
ततो न उग्रा विभ जा वसूनि।"
13. डॉ. उपाध्याय, परमात्माशरणः प्राचीन भारत में राजनीतिक विचार एवं संस्थाएं, मीनाक्षी प्रकाशन, मेरठ, पृ. 356.
14. डॉ. वर्मा, रामचंद्र : हिंदू राजतंत्र (पहला खंड) चौथा प्रकरण" हिंदू प्रजातंत्रों का आरंभ और प्रजातंत्र संबंधी हिंदू पारिभाषिक शब्द" नागरीय प्रचारिणी सभा, काशी, पृ. 28.
15. अथर्ववेद 7-1-63
"सभा च मा समितिश्चवां प्रजापते र्दुहिरी संविदाने।
मेना संगच्छा उपमा स शिक्षज्वातः वदानि पितरः संगतेषु।।
16. डॉ. उपाध्याय परमात्मा शरण : पूर्वोक्त, पृ. 80-81.
17. डॉ. पांडेय, श्यामलाल : जनतंत्रवाद (रामायण और महाभारत कालीन), अवध पब्लिशिंग हाऊस, लखनऊ, पृ. 232.
18. श्री वर्मा, रामचंद्र : हिंदू राज्यतंत्र (पहला खंड) छटा प्रकरण, "बौद्ध संघ का प्रजातंत्र से आरंभ और बौद्ध साहित्य में प्रजातंत्र" नागरीय प्रचारिणी सभा, प्रयाग, पृ. 67.
19. पूर्वोक्त, पृ. 68.
20. पूर्वोक्त, पृ. 74, 75, 78.
21. पूर्वोक्त, पृ. 83, 84, 85.
22. पूर्वोक्त, पृ. 84.
23. प्रो. अल्तेकर, अ.स. : प्राचीन भारतीय शासन पद्धति , पृ. 91-92.
24. डॉ. राजपूत, रामसिंह : लेख "भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के आंदोलन के पृष्ठाधार" राज्य शास्त्र समीक्षा, जनवरी 1996, पृ. 36-37.
25. डॉ. कश्यप, सुभाष : "भारतीय राजनीतिक व्यवस्था" 1979, रिसर्च, दिल्ली, पृ. 39-40.
26. डॉ पार्थसारथी, जी. : भारत का संवैधानिक इतिहास, मीनाक्षी प्रकाशन मेरठ, पृ. 35-36.
27. Boutch, MA rise and Growth of Liberlism, Atmaram Printing Press, Baroda, 1938, p.171.
28. कश्यप, सुभाष : लेख "संविधान की आत्मा : प्रस्तावना" लोकतंत्र समीक्षा, 1969 जुलाई, पृ. 106-107.
29. Irtical 246, of the Indian Constitutions.
30. Irtical 12 to 35, of the Indian Constitution.
31. विधायनी, 1998, जनवरी-दिसंबर, पृ. 23.

◆

10

मध्यम आकार के उद्योग : संरचना एंव प्रक्रियाएँ

*–डॉ. के.एन. दिनेश**

प्रस्तुत शोध पत्र भिलाई इस्पात संयंत्र के पासे बसे हुए औद्योगिक क्षेत्र में स्थित मध्यम आकार के उद्योगों पर चार वर्ष तक किये गए शोध कार्य पर आधारित है। इस शोध के द्वारा मध्यम आकार के उद्योगों की औपचारिक एवं अनौपचारिक संरचना का अध्ययन करने का प्रयास किया गया है। यद्यपि यह अध्ययन एक सीमित क्षेत्र के उद्योगों पर किया गया है, तथापि इस शोध कार्य के द्वारा भारत के अन्य क्षेत्रों की मध्यम आकार की औद्योगिक इकाइयों की प्रमुख विशेषताओं पर भी प्रकाश डलता है। वृहद उद्योगों एवं लघु उद्योगों की विशेषताओं की तरह ही मध्यम आकार के उद्योगों की औपचारिक एवं अनौपचारिक संरचना की अपनी अलग होती विशषताएँ हैं।

वर्ष 1956 में भिलाई इस्पात संयंत्र की स्थापना के पश्चात् मध्यम आकार की अनेक औद्योगिक इकाइयाँ इस क्षेत्र में स्थापित हुई क्योंकि भिलाई इस्पात संयंत्र से निर्मित उत्पाद से कच्चे माल के रुप में इन उद्योगों को प्राप्त होने लगे। दूसरी तरफ इन मध्यम आकार की इकाईयों द्वारा निर्मित बहुत, से उत्पादों की भिलाई इस्पात संयंत्र में खपत होने के कारण, बाजार भी उन्हें सहजता से उपलब्ध हो गया।

इस अध्ययन हेतु गहन गवेषणा के लिये मध्यम आकार की चार इकाईयों का चयन किया गया है। चयनित पहली इकाई 'भिलाई वायर्स लिमिटेड' विभिन्न आकारों की वायर रॉडस् का उत्पादन करती है। इस इकाई को भिलाई इस्पात संयंत्र द्वारा निर्मित उत्पाद कच्चे माल के रूप में प्राप्त होता है। अन्य तीन चयनित इकाईयाँ – 'भिलाई इंजीनियरिंग कार्पोरेशन लिमिटेड, 'सिम्पलेक्स उद्योग' तथा 'भारत इंडस्ट्रियल वर्क्स' इस्पात फेब्रीकेशन, ढलाई मशीनिंग और विभिन्न प्रकार के उत्पादों का निर्माण करती है। जहाँ एक और इन इकाइयों को कच्चा माल भिलाई इस्पात संयंत्र से प्राप्त होता है, वहीं दूसरी ओर भिलाई इस्पात संयंत्र इन इकाइयों द्वारा निर्मित उत्पादों का क्रेता भी है। स्पष्ट है कि भिलाई इस्पात संयंत्र इन इकाइयों के विकास में महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है।

भिलाई औद्योगिक क्षेत्र में मध्यम आकार की दस औद्योगिक इकाइयां कार्यरत हैं। इनमें से दो इकाइयों यथा भिलाई इंजीनियरिंग कार्पोरेशन लिमिटेड एवं भिलाई वायर्स लिमिटेड में कार्यरत कर्मचारियों की संख्या सबसे अधिक है। दो इकाइयाँ, सिम्लेक्स उद्योग एवं भारत इंडस्ट्रियल वर्क्स कार्यरत श्रमिकों की संख्या सबसे कम है।

चयनित मध्यम आकार की चारों इकाइयों में से स्तरित यादृच्छिक प्रतिचयन विधि द्वारा इन इकाइयों में कार्यरत स्तरों के 365 उत्तरदाताओं का चयन किया गया है। इनमें सभी स्तर के कार्मिकों – प्रबंधक, उपप्रबंधक, सहायक प्रबंधक, फोरमेन, सुपरवाईज़र एवं श्रमिक (कुशल, अर्द्धकुशल एवं अकुशल) की प्रतिनिधित्व है। तथ्यों के संकलन के लिए प्रमुख रूप से पूर्व-निर्मित साक्षात्कार अनुसूची का उपयोग किया गया है। साक्षात्कार अनुसूची को अंतिम रूप से तैयार करने के पूर्व इसका कई बार पूर्व-प्रयोग किया गया ताकि अध्ययन में सभी अपेक्षित तथ्यों का समावेश हो सके। प्राप्त तथ्यों के वर्गीकरण हेतु कंप्यूटर की सहायता ली गई ताकि वर्गीकरण में कोई त्रुटि की संभावना न हो।

लघु, सहायक, मध्यम एवं वृहद आकार के उद्योगों के मानदंडों को समय-समय पर सरकार द्वारा संशोधित कर परिभाषित किया गया है। औद्योगिक नीति वृत्तांत 1956 के

*समाज शास्त्र अध्ययनशाला, रविशंकर विश्वविद्यालय, रायपुर (म.प्र.)

अनुसार वे लघु उद्योग आते है जिनकी पूँजी 5 लाख रुपये हो और एवं जिसमें 50 या उससे कम व्यक्ति कार्यरत हो। वर्ष 1975 में लघु उद्योगों के लिये यह सीमा बढ़ाकर 10 लाख रुपये एवं सहायक उद्योगों के लिये यह सीमा बढ़ाकर 10 लाख रूपये एवं सहायक उद्योगों के लिये 15 लाख रुपये कर दी गई। वर्ष 1980 में लघु उद्योगों के लिये पूँजी की सीमा बढ़ाकर 15 लाख रूपये एवं सहायक उद्योगों के लिये 20 लाख कर दी गई। मार्च, 1985 में सरकार ने लघु उद्योगों की पूँजी सीमा बढ़ाकर 20 लाख रुपये एवं सहायक उद्योगों के लिये यह सीमा बढ़ाकार 35 लाख कर दी गई। मई, 1990 के औद्यगिक नीति वृत्तांत के अनुसार लघु उद्योगों के लिये संयंत्र एवं मशीनरी पर लगायी गयी पूँजी की सीमा 35 लाख रुपये से बढ़ाकर 60 लाख कर दी गई।

वर्ष 1998-99 में भारत सरकार ने अपनी नई आर्थिक नीति घोषित की, जिसमें जो औद्योगिक इकाइयाँ संयंत्र एवं मशीनरी पर 3 करोड़ रुपये तक की पूँजी निवेश करती है उनहें लघु उद्योग के अंतर्गत माना गया। फिर 17 फरवरी 1999 में सरकार ने पूँजी निवेश सीमा को 3 करोड़ रुपये से घटाकर 1 करोड़ रुपये कर दिया।

वर्ष 1991 में किये गये वर्गीकरण के अनुसार वे सभी औद्योगिक इकाइयाँ जो अपनी पूँजी का निवेश संयंत्र एवं मशीनरी पर लघु उद्योगों, सहायक उद्योगों द्वारा निवेशित पूँजी से ज्यादा करती हैं, मध्यम आकार के उद्योगों एवं वृहद आकार के उद्योगों के अंतर्गत आती हैं।

प्रस्तुत अध्ययन हेतु चयनित सभी चारों इकाइयों की संयंत्र एवं मशीनरी पर निवेशित पूँजी 1 करोड़ रुपये से अधिक है। अतः वर्तमान वैधानिक प्रतिमानों के अनुसार यह सभी इकाइयाँ मध्यम आकार के उद्योगों की श्रेणी में आती हैं। प्रचलित अंतर्राष्ट्रीय नियमों के तहत् वे सभी उद्योग जिसमें 100 या इससे कम श्रमिक कार्य करते हैं, लघु उद्योगों के श्रेणी में आते हैं। इसके अनुसार भी प्रस्तुत अध्ययन हेतु चयनित इकाइयाँ मध्यम आकार के उद्योगों की श्रेणी में आती हैं।

भारतीय अर्थव्यवस्था के विकास एवं रोजगार के क्षेत्र में, वृहद आकार के उद्योगों के साथ तीव्र प्रतियोगिता होने एवं सरकार से पर्याप्त प्रोत्साहन न मिलने के बावजूद, लघु एवं मध्यम आकार के उद्योगों की भूमिका अहम् रही है। वर्ष 1991 से देश में आर्थिक उदारीकरण के प्रभाव के साथ मध्यम आकार के उद्योगों ने भी अपनी भूमिका बदलते आर्थिक वातावरण के साथ परिवर्तित कर ली है और तेजी से विकास की ओर कदम बढ़ाए हैं। यही कारण है कि संघ बजट 1998-99 में, सरकार ने मध्यम आकार के उद्योगों के विकास पर विशिष्ट ध्यान दिया था।

समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से यह महत्वपूर्ण है कि वृहद आकार के उद्योगों में संस्तरण का आधिक्य होता है, तथा विभिन्न स्तरों पर बहुत-से कर्मचारी कार्यरत रहते हैं। अत्यधिक व्यक्तियों के दवारा संप्रेषण होता है और अत्यधिक स्तरों पर निर्णय लिए जाते हैं। इन इकाइयों में संबंध अवैयक्तिक होते हैं, वहीं दूसरी ओर लघु उद्योगों में संबंध आमने-सामने एवं पहचान के होते हैं। मध्यम आकार के उद्योगों की विशेषताएँ न तो वृहद उद्योगों की तरह और न तो लघु उद्योगों की तरह होती है। मध्यम आकार के उद्योगों की अपनी विशेषताएं है। प्रस्तुत शोध कार्य इन विशेषताओं का अध्ययन करने का एक प्रयास है।

किसी भी कर्मचारी की जैविकीय विशेषताएँ, सामाजिक-सांस्कृतिक विशेषताएँ एवं योग्यता संस्था में उत्पादकता, अनुपस्थिति, गतिशीलता एवं कार्य संतुष्टि को प्रभावित करता हैं। अध्ययन हेतु चयनित इकाइयों में तीन-चौथाई उत्तरदाताओं की आयु 26 से 45 वर्ष के बीच हैं। चयनित इकाइयों में से भारत इंड्रस्ट्रीयल वर्क्स को छोड़कर सभी इकाइयाँ 20 से 30 वर्ष से कार्यरत है। औद्योगिक क्षेत्र में बसे इन मध्यम आकार के उद्योगों में कार्यरत महिला कर्मचारियों की संख्या नगण्य है। मात्र 12.4% उत्तरदाताओं को छोड़कर सभी उत्तरदाता विवाहित हैं। चयनित इकाइयों में छत्तीसगढ़ क्षेत्र के निवासी अधिकांश उत्तरदाताओं पर आश्रितों की संख्या भारत के दूसरे क्षेत्रों से आए उत्तरदाताओं पर आश्रित सदस्यों से अधिक है। स्वयं की कृषि भूमि से मिलने वाले अनाज की उपलब्धता, संयुक्त परिवार की परिपाटी, पालकों एवं स्वयं की निरक्षरता के कारण इस क्षेत्र से संबंधित उत्तरदाताओं के परिवारों में आश्रितों की संख्या अधिक है। उच्च पदों पर कार्यरत कर्मचारियों के परिवारों में आश्रितों की संख्या अपेक्षाकृत अल्प है।

संबंधित तथ्यों के विश्लेषण से यह ज्ञात होता है कि आश्रितों की संख्या अपेक्षाकृत अधिक होने के कारण, पारिवारिक उत्तरदायित्व के कारण तथा रोजगार की अन्यत्र अनुपलब्धता के कारण मध्यम आकार के उद्योगों में कार्यरत कर्मचारी आसानी से वर्तमान रोजगार को छोड़कर अन्यत्र नहीं जा पाते हैं।

चयनित उत्तरदाताओं में सबसे अधिक उत्तरदाता (38%) पिछड़े वर्गों से संबंधित हैं। मध्यम जाति के उत्तरदाताओं की संख्या 37 प्रतिशत है। अनुसूचित जातियों के कर्मचारियों की संख्या समग्र चयनित कर्मचारियों में 10.4 प्रतिशत है, जबकि अनुसूचित जनजाति के कर्मचारियों की मात्र 0.56 प्रतिशत है। ऊँची जाति वाले उत्तरदाताओं की संख्या कुल 13.8 प्रतिशत है। तथ्यों के विश्लेषण से स्पष्ट होता है कि अनुसूचित जनजातियों का प्रतिशत चयनित उत्तरदाताओं में बहुत ही कम है जबकि छत्तीसगढ़ क्षेत्र की कुल जनसंख्या में अनुसूचित जनजातियों का प्रतिशत 40.8 प्रतिशत है। चयनित इकाइयों में अनुसूचित जनजातियों का प्रतिनिधित्व अल्प होने का कारण यह प्रतीत होता है कि इनका झुकाव इन उद्योगों में काम करने का नहीं है। साथ ही इनमें शिक्षा एवं उचित प्रशिक्षण का अभाव है। चयनित इकाइयाँ मूलतः निजी उद्योग हैं अतएव अनुसूचित जाति एवं जनजाति को आरक्षण देना इनके लिये आवश्यक भी नहीं है।

चयनित औद्योगिक इकाइयों में अधिकतर उत्तरदाताओं की मातृभाषा हिंदी (35.4%) है। उत्तरदाताओं में हिंदी एवं छत्तीसगढ़ी मातृभाषा का आधिक्य इसी कारण है कि यह क्षेत्र हिंदी एवं छत्तीसगढ़ी मातृभाषी है। उल्लेखनीय है कि भारत के अन्य क्षेत्रों से आकर इन औद्योगिक इकाइयों में कार्यरत भाषा समूह के लोगों की संख्या भी नगण्य नहीं है। यह समग्र उत्तरदाताओं की 30% है। वर्ष 1956 में भिलाई इस्पात संयंत्र की स्थापना के पश्चात् भारत के विभिन्न राज्यों से लोग रोजगार के अवसर के कारण भिलाई प्रवासित हुए। वर्तमान में भिलाई इस्पात संयंत्र में करीब एक लाख कर्मचारी कार्यरत हैं। भिलाई इस्पात संयंत्र में कार्यरत श्रमिक बहु-क्षेत्रीय, बहु-धार्मिक एवं बहु-भाषीय है। मध्यम आकार की इकाइयों के भिलाई इस्पात संयंत्र के नजदीक होने के कारण भिलाई इस्पात संयंत्र के कर्मचारियों के रिश्तेदारों एवं मित्रों को इन उद्योगों में रोजगाार के अवसर प्राप्त हो रहे हैं। भिलाई इस्पात संयंत्र में नौकरी न मिलने के कारण यह लोग उसके नजदीक बसी हुई औद्योगिक इकाइयों में रोजगार की तलाश करते है तथा कुछ इसमें सफल भी हो जाते हैं। मध्यम आकार के उद्योगों में कार्यरत श्रमिक राष्ट्रीय एकता का एक उत्कृष्ट उदाहरण है क्योंकि चयनित इकाइयों के श्रम-समूहों में भारत के सभी राज्यों के व्यक्तियों का प्रतिनिधित्व है।

चयनित चारों औद्योगिक इकाइयों में कार्यरत कर्मचारियों को सरकार दवारा निर्धारित न्यूनतम वेतन प्राप्त होता है। यह वेतन इर समय-समय पर सरकार दवारा परिवर्तित की जाती रहती है। इन इकाइयों में कार्यरत अधिकांश उत्तरदाता इन वेतन दरों से संतुष्ट नहीं है और यह महसूस करते हैं यह वेतन दर उनके जीविका के लिये पर्याप्त नहीं है। एक चौथाई से अधिक उत्तरदाताओं को रु.1,000 से 2,000 के बीच वेतन प्राप्त होता है जबकि आधे से ज्यादा उत्तरदाताओं को रु. 2,000 से 4000 तक वेतन प्राप्त हो रहा है। उच्च वेतनमान केवल इन इकाइयों में कार्यरत प्रबंधक स्तर के लोग ही प्राप्त कर रहे हैं।

तथ्यों के विश्लेषण से यह स्पष्ट परिलक्षित होता है कि मध्यम आकार की चयनित इकाइयाँ में तीन प्रकार के कर्मचारी कार्यरत है। वे इस प्रकार है- क. स्थायी कर्मचारी – जो कंपनी दवारा नियुक्त किये जाते हैं, ख. ठेकेदार मजदूर – वे मजदूर जो ठेकेदार दवारा नियुक्त किये जाते हैं एवं ग. समिति सदस्य – वे मजदूर जो श्रमिक संघों की समितियों दवारा नियुक्त एवं नियंत्रित किये जाते हैं। ये समितियाँ कंपनी दवारा मान्यता प्राप्त श्रम-संघों दवारा संचालित होती है। इस प्रकार समितियाँ सिम्लेक्स उद्योग एवं भिलाई वायर्स लिमिटेड दवारा मान्यता प्राप्त श्रम-संघो – इंटुक एवं एटक – के नेताओं दवारा गठित की गयी है। यह समितियाँ श्रमिक नियुक्त करती हैं। समिति कंपनी से श्रमिकों का वेतन प्राप्त करती है एवं उसमें से अपना लाभ काटकर श्रमिकों को वेतन प्रदान करती है। इस प्रकार की व्यवस्था अप्रत्याशित एवं आश्चर्यजनक है। इसका सीधा अर्थ यह है कि इन उद्योगों के मालिक श्रम-संघों को नियंत्रण करने वाले लोगों को ही नियमित वित्तीय लाभ देने की नीति अपनाएं हुए हैं। स्पष्ट है कि इस प्रकार की व्यवस्था के दवारा श्रम-संघों के नेता इन उद्योगों के मालिकों के हितों का संरक्षण करते रहते हैं।

चयनित इकाइंया अपने कर्मचारियों को न तो कार्य के साथ प्रशिक्षण और न ही कार्य के बाद कोई प्रशिक्षण उपलब्ध कर रही हैं। प्रशिक्षण कार्यक्रमों की अनुपलब्धता के कारण, मध्यम आकार की इन इकाइयों में कार्यरत कर्मचारियों को ऊँचे पदों को प्राप्त करने अवसर नहीं मिल पाते हैं।

चयनित इकाइयों में कार्यरत कुशल, अद्र्धकुशल एवं अकुशल श्रमिकों से संप्रेषण मौखिक रूप से ही किया जाता है क्योंकि इन श्रमिकों में से अधिकांश कम पढ़े-लिखे या निरक्षर है। साथ ही भाषा की समस्या भी होती है। यहाँ सुपरवाइज़र और श्रमिकों के बीच आमने-सामने, मौखिक रूप से संप्रेषण द्वारा कार्यों को निर्देशित किया जाता है। इस प्रकार का संप्रेषण लालफीताशाही, विलंब एवं औपचारिकता को कम करने में सहायक होता है।

चारों चयनित इकाइयों में किसी भी प्रकार की शिकायत निवारण समिति का गठन नहीं किया गया है। अधिकांश शिकायतों का निवारण सुपरवाइज़र और अधीनस्थ श्रमिकों के बीच विचार-विमर्श द्वारा किया जाता है।

चयनित इकाइयों में अनुशासनात्मक कार्रवाई के लिये ज्यादातर मौखिक चेतावनी दी जाती है। यदि मौखिक चेतावनी प्रभावी होती है तो अनुशासनात्मक कार्रवाई नहीं की जाती हे। यदि मौखिक चेतावनी से श्रमिक अपने व्यवहार में सुधार नहीं लाता है तो अगली कठोर कार्रवाई की जाती है। कार्मिक विभाग द्वारा कर्मचारियों की नस्तियों में इन कार्यवाहियों को दर्ज किया जाता है। जब श्रमिक अपने कार्य-व्यवहार में सुधार करता है तो नस्तियों में दर्ज अनुशासनात्मक कार्रवाई से संबंधित पत्रों को निकाल दिया जाता है।

औपचारिक संरचना से संबंधित तथ्यों के विश्लेषण से यह ज्ञात होता है कि इन इकाइयों में संस्तरण के कम हाने एवं वैयक्तिक संबंध मधुर होने के कारण संप्रेषण में होने वाली रूकावटों में कमी, निर्णय लेने की गति में तेजी, लालफीताशाही में कमी एवं प्रत्यक्ष नियंत्रण का लाभ प्राप्त होता है। चयनित औद्योगिक इकाइयाँ अपने कर्मचारियों को न तो उचित वेतन तथा पदोन्नति के अवसर उपलब्ध कराती हैं और न किसी भी प्रकार के प्रशिक्षण का अवसर प्रदान करती हैं।

श्रमिकों के बीच संबंधों के बारे में प्राप्त तथ्यों से यह पता चलता है कि एक-चौथाई उत्तरदाताओं के कार्य समूह में नजदीकी दोस्त छः एवं इससे ज्यादा हैं। तथ्यों से यह भी स्पष्ट हाता है कि कार्य-समूह के श्रमिकों एवं सुपरवाइज़र के बीच संबंध काफी मधुर है। इसके विपरीत ऊँचे प्रबंधकीय स्तर पर प्रबंधक, उपप्रबंधक एवं अन्य अधिकारियों के अपने कार्य समूह के अन्य सदस्यों से नजदीकी संबंध नहीं है।

मशीन शॉप में कार्यरत लेथ-ऑपरेटर एवं मशीनिस्ट अपने कार्य-समूह के साथ-साथ अन्य कार्य समूह के सदस्यों से वार्तालाप भी नहीं कर पाते हैं। इससे यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि कार्य की प्रकृति भी सामाजिक अन्योन्य क्रिया को प्रभावित करती है। वहीं दूसरी ओर अनुरक्षण विभाग (मैकेनिकल व इलेक्ट्रिकल) के कर्मचारियों की - जो उत्पादन, स्टोर या अन्य विभागों में संलग्न है, सभी विभागों के श्रमिकों के साथ परस्पर क्रिया होती रहती है। यही कारण है कि अधिकतर इस प्रकार के श्रमिक ही चयनित इकाइयों के सभी श्रमिकों की समस्याओं का उचित प्रतिनिधित्व करते हैं।

चयनित औद्योगिक इकाइयों के अधिकांश श्रमिक उत्तरदाता (95.4%) अपने कार्य समूह के सहकर्मी के किसी अन्य विभाग में स्थानांतरण के बाद निराशा महसूस करते हैं, जबकि ऊँचे पदों पर आसीन उत्तरदाता – प्रबंधक, उपप्रबंधक एवं कनिष्ठ अधिकारी-अपने सहकर्मी के कार्य-समूह से स्थानांतरण के बाद परेशानी महसूस नहीं करते हैं। ऊँचे पदों पर आसीन कार्मिकों एवं श्रमिकों के प्रवृत्ति में इस प्रकार का अंतर महत्वपूर्ण प्रतीत होता है।

प्राप्त तथ्यों के विश्लेषण से स्पष्ट होता है कि सामाजिक-सांस्कृतिक कारक जैसे जाति, धर्म, क्षेत्रीयता या भाषा इन इकाइयों में कार्यरत कार्य-समूह के सदस्यों के बीच मित्रता का आधार नहीं है। कार्य-समूह के सहकर्मियों के बीच संबंध मधुर है। कर्मचारियों के बीच मधुर संबंधों एवं सहयोग के कारण संस्था द्वारा निर्धारित कार्य-लक्ष्य को प्राप्त करना आसान हो जाता है।

तथ्यों के अवलोकन से यह स्पष्ट होता है कि सामाजिक-सांस्कृतिक कारक जैसे जाति, धर्म, क्षेत्रीयता या भाषा इन इकाइयों में कार्यरत कार्य-समूह के सदस्यों के बीच मित्रता का आधार नहीं है। कार्य-समूह के सहकर्मियों के बीच संबंध मधुर है। कर्मचारयों के बीच मधुर संबंधों एवं सहयोग के कारण संस्था द्वारा निर्धारित कार्य-लक्ष्य को प्राप्त करना

आसान हो जाता है।

तथ्यों के अवलोकन से यह स्पष्ट होता है कि औपचारिक रूप से निम्न प्रस्थिति के कर्मचारियों की भी अपने अनुभव एवं इकाई में लंबे अवधि की सेवा के कारण अपने कार्य-समूह में उच्चतर अनौपचारिक प्रस्थिति होती है। कार्य समूह में कठिन परिश्रम करने वाले श्रमिकों को अपने समूह में ऊँची प्रस्थिति होती है कुछ उत्तरदाताओं के अनुसार जो कर्मचारी अपने समूह में सभी सदस्यों को सहयोग प्रदान करता है उसे ही ज्यादा आदर प्राप्त होता है।

अध्ययन से यह पता चलता है कि श्रमिकों के अपने सुपरवाइजर के साथ अच्छे संबंध है। सुपरवाइजर जहाँ एक ओर श्रमिकों के साथ अच्छे संबंध बनाये रखता है वहीं दूसरी ओर अपने अधिकारियों से भी अच्छे संबंध रखता है। संस्तरण के कम होने की वजह से मध्यम आकार के उद्योगों में अधिकारी अपने निकट अधीनस्थ के साथ-साथ नीचे के स्तर पर कार्यरत कर्मचारियों से भी प्रत्यक्ष संबंध बनाये रखता है। इन इकाइयों में कार्यरत अधिकतर सुपरवाइज़र युवा है एवं अपने अधीनस्थ श्रमिकों से कम अनुभवी है। इस कारण वे अपने अच्छे व्यवहार का अपने अधीनस्थ कर्मचारयों से काम लेने में उपयोग करते है।

मध्यम आकार के उद्योगों में कार्यरत सुपरवाइज़र कार्य-समूह एवं अपने से ऊँचे स्तर के अधिकारयों के बीच एक महत्वूपर्ण कड़ी होता है। वह अपने अधीनस्थ कर्मचारियों की समस्याओं को अच्छी तरह समझ सकता है। जहाँ एक ओर अधीनस्थ कर्मचारी अच्छे संबंधों की वजह से उनसे बिना झिझक विचार-विमर्श करते हैं वही दूसरी तरफ सुपरवाइज़र अपने अधीनस्थ कर्मचारी की समस्याओं को प्रबंधन के समक्ष रखता है। इस तरह वह ऊँचे अधिकारियों एवं अधीनस्थ कर्मचारियों के मध्य एक कुशल संप्रेषक का काम करता है जिससे उपयुक्त निर्णय लेने में सहायता मिलती है।

तथ्यों के विश्लेषण से यह भी स्पष्ट होता है कि अधीनस्थ कर्मचारियों से कार्य लेने के लिये सुपरवाइजर मुख्यतः तीन तरीके अपनाता है – प्रोत्साहन द्वारा (39%), उचित मार्गदर्शन द्वारा (29.2%) एवं उचित नियंत्रण द्वारा (16.8%)। दूसरे शब्दों में यह कह सकते हैं मध्यम आकार के उद्योगों में कार्यरत सुपरवाइज़र नकारात्मक अभिप्रेरण से ज्यादा सकारात्मक अभिप्रेरण का उपयोग करता है।

मध्यम उद्योगों में संस्तरण कम होने के कारण अधिकारी अपने अधीनस्थों एवं अन्य नीचे स्तर के श्रमिकों से भी परिचित होता है। ऊँचे स्तर के प्रबंधक भी बहुत से श्रमिकों के नाम जानते हैं। अधिकांश उत्तरदाताओं का मत है कि कुछ कर्मचारी अपने अधिकारी के पसंदीदा होते हैं। आधे से ज्यादा उत्तरदाताओं के अनुसार मेहनती श्रमिकों को ही अधिकारी ज्यादा पसंद करते हैं जबकि कुछ उत्तरदाताओं का यह भी मानना है कि चापलूसी के कारण भी कुछ कर्मचारी अधिकारियों के चहेते हैं।

नेतृत्व से संबंधित तथ्यों के विश्लेषण से यह स्पष्ट होता है कि मध्यम आकार के उद्योगों में कार्यरत अधिकांश श्रमिकों के अनुसार उनके अधिकारी ही अधिकांशतः कार्य समूह का प्रतिनिधित्व करते हैं। यह एक आश्चर्यजनक पहलू है। तीन-चौथाई से ज्यादा उत्तरदाताओं के अनुसार इन उद्योगों में नेतृत्व उत्पादकता को सकारात्मक रूप से प्रभावित कर रहा है।

वृहद आकार के उद्योगों की तुलना में मध्यम आकार के उद्योगों में अपेक्षाकृत संस्तरण के कम होने से नीचे स्तर के श्रमिकों एवं ऊँचे स्तर के अधिकारियों के बीच परस्परक्रिया सहजता से होती है। इसी कारण अधिकांश उत्तरदाताओं की धारणा है कि इन उद्योगों में औद्योगिक संबंध अच्छे है।

एकत्रित तथ्यों के विश्लेषण से मध्यम आकार के उद्योगों में अच्छे औदयोगिक संबंधों के तीन कारणों का पता चला है – अच्छा पर्यवेक्षण, प्रबंधन द्वारा समस्याओं को सुनने को तैयार रहना एवं संघर्ष को तुरंत सुलझाने के लिये प्रभावी मशीनरी। तथ्यों के आधार पर यह निष्कर्ष निकलता है कि अच्छा पर्यवेक्षण स्वस्थ औद्योगिक संबंधों के लिये आवश्यक है। पर्यवेक्षण के गुण किसी भी उद्योग की उत्पादकता, कार्य-संतुष्टि एवं उत्साह को प्रभावित करता है। चयनित औद्योगिक इकाइयों के उत्तरदाता प्राप्त होने वाले वेतन से असंतुष्ट हैं किंतु अच्छे पर्यवेक्षण ताकि सहज संप्रेषण के कारण मध्यम उद्योगों में संबंध अच्छे है।

आधे से ज्यादा उत्तरदाता श्रम-संघों के सदस्य है। अधिकारियों – प्रबंधक, उपप्रबंधक, सहायक प्रबंधक, फोरमेन, पर्यवेक्षक एवं कार्यालयीन सहायकों का कोई संघ नहीं है।

चयनित इकाइयों में मुख्यतः चार श्रम-संघ कार्यरत हैं – इंटक, एटक, स्वतंत्र श्रमिक संघ एवं छत्तीसगढ़ मुक्ति मोर्चा। चयनित मध्यम आकार में छत्तीसगढ़ मुक्ति मोर्चा कार्य कर रहा है परंतु किसी भी ने इस संघ का मान्यता नहीं दी है। छत्तीसगढ़ क्षेत्र के अधिकांश निवासी श्रमिक छत्तीसगढ़ मुक्ति मोर्चा से जुड़े हुए हैं।

चयनित इकाइयों के श्रम-संघों का नेतृत्व उन व्यक्तियों के हाथों में है जो प्रबंधन व्यवस्थित रूप से लाभान्वित किए जाते रहते हैं। सिम्पलेक्स उद्योग में कार्यरत उत्तरदाताओं के अनुसार वर्तमान में जो सुविधा उन्हें मिल रही है उसका सारा श्रेय छत्तीसगढ़, मुक्ति मोर्चा के स्वर्गीय नेता शंकरलाल गुहा नियोगी को है।

अध्ययन के समस्त पहलुओं पर विचार करने पर यह निष्कर्ष निकलता है कि वर्तमान व्यवस्था ने मध्यम आकार की इन इकाइयाँ में कार्यरत श्रमिकों को तीन तरह के श्रेणियों में विभाजित कर रखा है – स्थायी कर्मचारी, ठेकेदार के श्रमिक एवं मजदूर संघ की समिति के श्रमिक। कंपनी समर्थित श्रम-संघों को ही मान्यता दी गयी है। समिति के माध्यम से इनके नेताओं को स्थायी वित्तीय लाभ प्रदान किया जा रहा है। इस प्रकार श्रम-संघ इन उद्योगों में नकारात्मक नेतृत्व की भूमिका निभा रहे हैं। इन तमाम तरीकों से मध्यम आकार की इन इकाइयों के मालिकों ने श्रमिकों की एकता को विभाजित कर रखा है।

◆

11

विकलांगो की सामाजिक सुरक्षा

*–प्रो. सुमन रायजादा**

भूमिका

विकलांगता एक ऐसी स्थिति है जो किसी भी व्यक्ति को किसी भी अवस्था में उसके सामान्य व्यवहार, कार्यशक्ति, विचार एवं नियमित कृत्य को न्यूनाधिक प्रभावित कर आंगिक, मानसिक, सामाजिक एवं भावनात्मक असंतुलन उत्पन्न कर देती है। अतः शारीरिक, मानसिक, सामाजिक या मनोवैज्ञानिक किसी भी क्षेत्र में हुई विकृतियाँ बालक में जब सीखने-सिखाने की समस्या उत्पन्न कर देती हैं तो वे विकलांग कहलाते हैं। विकलांग बालक का व्यवहार, उसकी शारीरिक संरचना एवं उसका स्वभाव कई बार इतनी विषम स्थिति उत्पन्न कर देता है कि सामान्य जीवन में परिवार, विद्यालय एवं समाज तक प्रभावित हो रहते है। अपंग बालक सामान्य बालकों की अपेक्षा अपने को हीन समझने लगता है। वह झगडालू, एकाकी एवं सामाजिक दृष्टि से असमायोजित हो जाता है। अनुकूल वातावरण न मिलने के कारण उसकी प्रकृति प्रदत्त शक्तियाँ एवं क्षमताएं प्रारंभ से ही प्रायः नष्ट हो जाती हैं। इस प्रकार समाज अनेक होनहार बालकों की अनुपम प्रतिभा के लाभों से वंचित रह जाता है।

विकलांगों की श्रेणियाँ

विकलांगों को मुख्यतः तीन वर्गो में बांटा जा सकता है। सेमुअल ए. क्रिक न विकलांगों की निम्नलिखित **तीन श्रेणियाँ** बताई है।

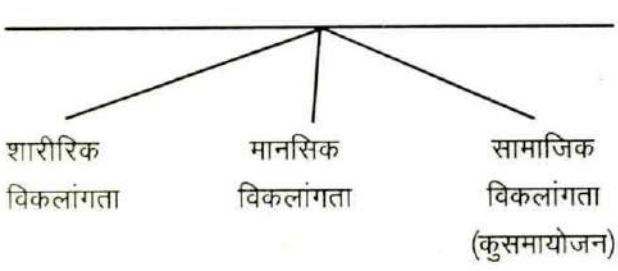

शारीरिक विकलांगता :

शारीरिक रूप से विकलांग औसत शरीरिक अवस्था संपन्न व्यक्ति से आंतरिक एवं बाह्य रचना में भिन्न होता है। यह भिन्नता अस्थि, पेशी, आकृति, संरचना, अशक्त अंगता, अधिक और न्यून अंगता आदि की होती हे। अंधता, मूक-बधिरता और अंग-भंगता भी इसी वर्ग में आती है।

मानसिक विकलांगता

मानसिक विकलांगों में सूझ, तर्कशक्ति एवं ग्रहणीय क्षमता का अभाव होता है। मानसिक जड़ता वाले स्वयम के प्रति भी संज्ञा शून्य रहते है। मानसिक रूप से विकलांग व्यक्ति विकलांगता की अपनी अवस्था के अनुसार स्मृति, पहचान एवं सीखने में अधिक आवृत्ति, अधिक उपकरण एवं अधिक समय लेते हैं। इनकी मानसिक आयु, शारीरिक आयु एवं सामाजिक आयु में कोई तालमेल नहीं होता है।

सामाजिक विकलांगता (कुसमायोजन)

कुंठाएं, तनाव, अतृप्ति, ईर्ष्या, प्रतिहिंसा, अयोग्यता का बोध, रिश्तों की खटास, अविश्वास आदि सब अवस्थाएं सामाजिक विकलांगता को जन्म देती है। सामाजिक रूप से विकलांग व्यक्ति समाज की मान्यताओं एवं परंपराओं के प्रति विद्रोह या घृणा का स्वभाव बना लेता है, और अपने व्यवहार एवं विचारों के माध्यम से उन्हें प्रकट करते हैं।

विकलांगता के कारण

विकलांगता के प्रमुख कारण नीचे दिए गए चार्ट में दर्शाए गए है।

*शिक्षा एवं समाज विज्ञान संकाय, डी.ई.आई. (डीम्ड विश्वविद्यालय), 3/142 प्रेम नगर, दयालबाग, आगरा 282005

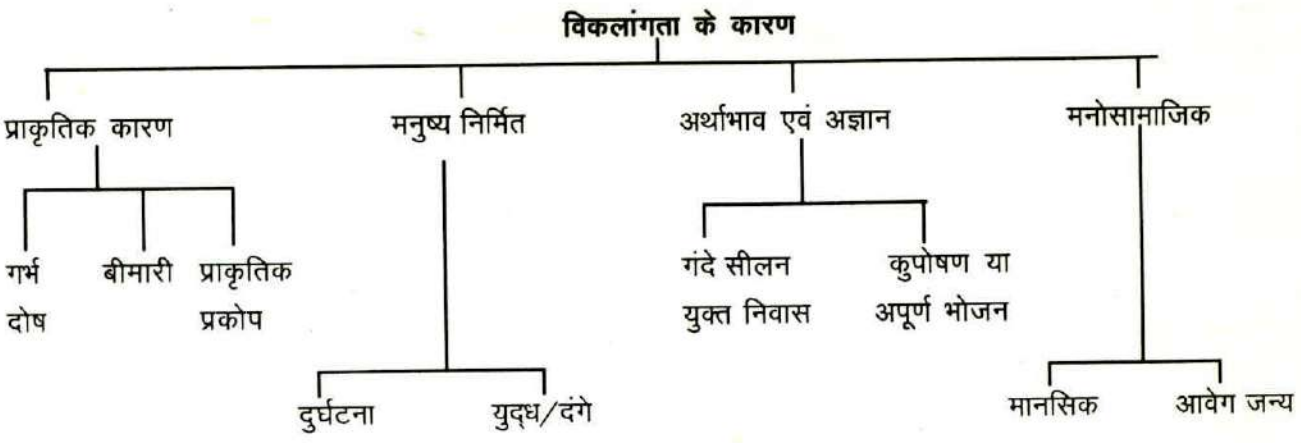

प्राकृतिक कारण

गर्भ दोष - (अ) यौन शिक्षा एवं शरीर विज्ञान की जानकारी के अभाव में गर्भावस्था पर पड़ने वाले प्रभाव से बालक विकलांग हो जाते है।

(ब) अप्रशिक्षित एवं अज्ञानी दाइयाँ संतानोत्पति के अवसर पर धैर्य, युक्ति एवं औषधियों के उपयोग की अपेक्षा शक्ति प्रयोग का सहारा लेती हैं, जिससें कभी-कभी तो माता एंव शिशु दोनों का जीवन संकट में पड़ जाता है।

बीमारी - (अ) बीमारी को दैवीय प्रकोप मानने वाले अपने शिशुओं को औषधि या उपचार की अपेक्षा टोना, झाड़ा, धुआँ आदि के द्वारा स्वस्थ रखना चाहतें हैं।

(ब) गरीबी में उपचार न होने से या बीमारी के असाध्य हो जाने पर उपचार की व्यवसायी ने होने से विकलांगता हो जाती है।

प्राकृतिक प्रकोप — बाढ़, भुखमरी, अतिवृष्टि अनावृष्टि, भूकंप, तूफान आदि कुछ ऐसे प्राकृतिक प्रकोप है जिनका प्रभाव इतना तीव्र होता है कि व्यक्ति सावधान हो इसके पूर्व वह संकट में पड़ जाता है। विकृत देह, अस्वस्थ मन व मस्तिष्क वाले व्यक्ति कराहते, चीखते, चिल्लाते, असाध्य अवस्था में पहुँच जाते है।

मनुष्य निर्मित कारण

दुर्घटना — विज्ञान ने जहाँ मनुष्य को गति की सुविधा दी है वहाँ दुर्घटना भी अनिवार्य हुई हैं। जल और थल पर तेजी से दौड़ते वाहन, आकाश में उड़ते वायुयान भी अनिवार्य हुए है। जल और थल पर तेजी से दौड़ते वाहन, आकाश में उड़ते वायुयान पूर्ण सावधानी के बावजूद दुर्घटनाग्रस्त हो जाते हैं। इस प्रकार इस व्यस्त जीवन में कोई भी प्राणी कब, कहाँ और किस रूप में विकलांग हो जाएगा कहा नहीं जा सकता।

युद्ध/दंगे स्वयं में एक दुर्घटना है। युद्ध की अनिर्वायता राष्ट्रों के संबंधों पर अवलंबित है। यह दोहरा प्रभाव है एक ओर व्यक्ति अपंग होते हैं दूसरी ओर राष्ट्रों की प्रगति सर्वथा रूक जाती है। स्त्रियाँ, बच्चे एवं युवक मानसिक एवं शारीरिक दोनों ही रूपों में असमर्थ हो जाते है, साथ ही राष्ट्र भी युद्ध की विभीषिका से विकृत हो जाते हैं। विश्व युद्धों के परिणाम हिरोशमा एवं नागासाकी के संदर्भ में देखे जा सकते हैं।

अर्थाभाव एवं अज्ञान - संपूर्ण विश्व चेतना युगों से अभाव की पूर्ति हेतु संघर्षरत है। महात्मा गाँधी ने स्वयं एक कोढ़ी की सेवा की और कहा " जहाँ भी ऐसा अभाव है, जिसके बिना व्यक्ति जीवित नहीं रह सकता, कष्टपूर्ण जीवन व्यतीत करता है, मै वहाँ पहुँचूंगा"। इन्ही अभावों के परिणाम स्वरूप विश्व की एक तिहाई जनता आधी भूखी रहती है एवं अपूर्ण चिकित्सा के कारण कष्ट भोगती है। ये अभाव ही विकलांगता के कारण बन जाते हैं।

गंदे सीलनयुक्त निवास- अभावों का दवाब सहते-सहते व्यक्ति एवं परिवार गंदी सीलन, भरी-अँधेरी कोठरियों में जीवन जीने को बाधित हैं। ऐसी दशा में अधिकांश बच्चों को घर से बाहर अपराधी वृत्ति वाले या कामुक लोगों के बीच में जीवन बिताना पड़ता है, जहाँ भोग, एवं विकृत मनोवृत्तियाँ

अबोध बालकों को ग्रसने लगती हैं। बीमारी, अपराध और भूख से पीडित बच्चे विकलांग हो भिक्षा माँगने लगते हैं। अज्ञान और अशिक्षा जीवन मूल्यों को नष्ट कर देते हैं। व्यक्ति जीवन की निकृष्ट स्थिति स्वीकार कर लेता है।

कुपोषण एवं अपूर्ण भोजन– मँहगाई, कम आय, बड़ा परिवार, उदरपूर्ति हेतु शक्ति क्षमता से अधिक किया गया कार्य, थोड़े ही समय में शरीर को कुप्रभावित कर विकलांग बना देता है।

मनोसामाजिक कारण

भावनात्मक – भावनात्मक विकृति का संबंध जीवन आदर्श, मान्यताओं एवं मूल्यों से लेकर सामान्य व्यवहार में एक पक्षीय स्थिति या विषमता से है। कभी-कभी विषम व्यवहार, अनिर्णय, उदासीनता व्यक्ति को निराश कर देती है जो भावात्मक दृष्टि से कुसमायोजन का कारण बनता है।

मानसिक - विशेष मानसिक स्थिति सामान्य व्यवहार में विकृति उत्पन्न कर देती है। दैनिक जीवन के सामान्य व्यवहार भी कई बार इतनी आवेगात्मक दशा ग्रहण कर लेते हैं कि संपूर्ण मस्तिष्क अनियंत्रित ही नहीं होता वरन् असंतुलित हो जाता है। यह अवस्था विक्षिप्तावस्था कहलाती है। विकृत मानसिक स्थिति मानसिक दुर्बलता, मानसिक निष्क्रियता से युक्त व्यक्ति सामान्य व्यवहार को त्याग देता हैं।

आवेगात्मक - इस अवस्था में व्यक्त एक पक्षीय रूप से सोचने लगता है और उसी के अनुरूप उसकी क्रियाएँ होती हैं। जैसे - अपशब्द बोलना, कपड़े फाड़ना, क्रोध करना, अपने को दंडित करते जाना आदि।

मानवधिकारों की सार्वभौमिक घोषणा

मानवाधिकारों से तात्पर्य उन सब परिस्थितियों व पर्यावरण से होता है जो मानव को मानव के रूप में अपने अस्तित्व को कायम रखने व व्यक्तित्व के विकास व निर्माण के लिए आवश्यक होती है। 10 दिसंबर, 1948 को संयुक्त राष्ट्र संघ महासभा द्वारा घोषित व स्वीकृत मानव अधिकारों के सार्वभौमिक घोषणा पत्र की धारा 2,3,6,7, 8 व 23 में निम्न घोषणाएं की गई थी-

धारा 2 : प्रत्येक व्यक्ति जाति, रंग, लिंग, भाषा, धर्म, राजनीति अथवा सामाजिक उत्पत्ति, जन्म अथवा अन्य किसी भेदभाव के बिना इस घोषणा में व्यक्त किए गये सभी अधिकारों और स्वतंत्रताओं का पात्र है।

धारा 3 : प्रत्येक व्यक्ति को जीवन, स्वतंत्रता तथा सुरक्षा का अधिकार है।

धारा 6 : कानून के सामने सभी समान हैं और किसी भेदभाव के बिना सुरक्षा के हकदार है।

धारा 7 : सभी को कानून के समक्ष एक व्यक्ति की भाँति मान्यता प्राप्त करने का अधिकार है।

धारा 8 : प्रत्येक व्यक्ति को संविधान या कानून द्वारा मिले मूलभूत अधिकारों के हनन पर सक्षम न्यायाधिकरणों द्वारा प्रभावी प्रतिकार प्राप्त करने का अधिकार है।

धारा 23 : प्रत्येक व्यक्ति को काम करने का, जीविका के लिए व्यवसाय चुनने का, काम की उचित एवं अनुकूल परिस्थितियाँ प्राप्त करने एवं बेकारी से सुरक्षित रहने का अधिकार प्राप्त है। साथ ही प्रत्येक व्यक्ति को समान कार्य के लिए समान वेतन पाने का अधिकार है।

इस प्रकार मानवाधिकारों की रक्षा हेतु अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर समुचित संवैधानिक व्यवस्था इस घोषणा पत्र के माध्यम से की गई है। इस घोषणा पत्र को जारी करने के पीछे भूल भावना यही थी कि मानव मात्र के कुछ ऐसे सर्वमान्य अधिकार हैं जो उससे छीने नहीं जा सकते।

वर्तमान भारत में विकलांगों की सुरक्षा हेतु प्रयास

उक्त वर्णित प्रावधानों को ध्यान में रखते हुए भारतीय संविधान के भाग 3 में मूल अधिकार जोड़े गये एवं 1993 में मानव अधिकार संरक्षण अधिनियम बना। 1994 के अधिनियम 10 को मानव अधिकार संरक्षण अधिनियम का नाम दिया गया, इसी अधिनियम में राष्ट्रीय मानव अधिकार आयोग के गठन की व्यवसी है। अधिनियम की धारा 12 के अनुसार मानव अधिकार आयोगों की जाँच के कार्यक्षेत्र काफी विस्तृत हैं। किसी अदालत में ऐसे लंबित मामले में जहाँ मानव अधिकारों के उल्लंघन का भय हो, आयोग हस्तक्षेप कर सकता है।

भारतीय संविधान के अनुसार विकलांगों की जरूरतों को पूरा करने की मुख्य जिम्मेदारी राज्य सरकारों की है (अनुच्छेद 41- राज्य अपनी आर्थिक सामर्थ्य और विकास की सीमाओं के भीतर बेकारी, बुढ़ापा, बीमारी और अंग हानि तथा अन्य अभाव की दशाओं में सार्वजनिक सहायता पाने में

अधिकार को प्राप्त कराने का कार्यसाधक उपबंध करेगा (**अनुच्छेद 46-** राज्य जनता के दुर्बलतर विभागों के हितों की विशेष सावधानी से उन्नति करेगा तथा सामाजिक न्याय तथा सब प्रकार के शोषण से उनका संरक्षण करेगा)

वर्तमान समय में केंद्रीय सरकार इस क्षेत्र में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती रही है। केंद्रीय फिर भी, कल्याण मंत्रालय सरकार के विभिन्न विभागों/मंत्रालयों और गैर सरकारी संगठनों के साथ विचार विमर्श करके विकलांगों की सुरक्षा के क्षेत्र में नीतिगत उपाय करता है। कुछ कार्यक्रम गैर सरकारी संगठनों के माध्यम से लागू किए जाते हैं और राज्य सरकारें उन पर गिरानी रखती हैं।

विकलांगों के लिए पुर्नवास कार्यक्रम

इस कार्यक्रम के अंतर्गत पुर्नवास सुविधाएँ प्रदान करने के लिए स्वयंसेवी संगठनों को 90 प्रतिशत वित्तीय सहायता (ग्रामीयण क्षेत्रों में 95 प्रतिशत) दी जाती है। यह सहायता भवन निर्माण, उपकरणों तथा साजसज्जा की खरीद और फुटकर खर्च आदि के लिए दी जाती है। 1200 रूपए प्रतिमाह से कम आय वाले विकलांगों को उपकारण निःशुल्क दिए जाते हे। 1200 से 2500 प्रतिमाह आमदनी वाले विकलांगों को उपकरणों की लागत का 50 प्रतिशत अनुदान दिया जाता है। योजना के अंतर्गत कम से कम 35 रूपये और अधिकतम मूल्य के उपकरण जैसे- वैसाखियाँ, कृत्रिम अंग, व्हीलचेयर, ब्रेल उपकरण, श्रवण यंत्र जरूरत मंदों को उपलब्ध कराए जाते हैं।

भारतीय पुनर्वास परिषद

विकलांगों के पुनर्वास के क्षेत्र में काम करने वाले पेशेवर लोगों के प्रशिक्षण के एक समान मानदंड लागू करने हेतु केंद्रीय पुनर्वास रजिस्टर के रखरखाव और अन्य संबद्ध मामलों की देखरेख के लिए सरकार ने भारतीय पुर्नवास परिषद की स्थापना की है। भारतीय पुनर्वास परिषद अधिनियम 31 जुलाई, 1993 से लागू हो गया है।

मिशन के रूप में प्रौद्योगिकी विकास योजना

प्रौद्योगिकी का प्रयोग करके कम लागत के उपयुक्त सहायक यंत्र तथा उपकरणों के द्वारा विकलांगों की गतिशीलता और रोजगार की संभावना बढ़ाने तथा उन्हें समाज की मुख्य धारा में लाने के लिए विज्ञान और प्रौद्येगिकी की एक परियोजना 1988 में शुरू की गई। इस परियोजना के अंतर्गत कम्प्यूटरीकृत, ब्रेल लिखाई उपकरणों, कृत्रिम उच्चारण यंत्रों, मस्तिष्क पक्षाघात से पीडित बच्चों के लिए भोजन करने में सहायता देने वाले उपकरणों, फोटो वोल्टेक बैटरी चार्जरों और इलेक्ट्रानिक गाइड स्टिक समेत कई वस्तुओं का विकास किया गया है। यह परियोजना देश के विकलांगों के लिए बहुत उपयोगी सिद्ध हुई है।

विकलांगों के लिए रोजगार

इस योजना का मुख्य उद्देश्य विकलांग व्यक्तियों को विशेष रोजगार कार्यालयों के द्वारा और देशभर में फैले सामान्य रोजगार कार्यलयों के अंतर्गत गठित विशेष प्रकोष्ठों के जरिए लाभप्रद रोजगार उपलब्ध कराना है। वर्तमान में ऐसे 41 विशेष प्रकोष्ठ और 47 विशेष रोजगार कार्यालय काम कर रहे हैं। इस योजना को राज्यों/केंद्र शासित प्रदेशों के माध्यम से लागू किया जा रहा है। विशेष सेल प्रकोष्ठ शत प्रतिशत और नये विशेष रोजगार कार्यालयों को 80 प्रतिशत! वित्तीय सहायता दी जाती है।

रियायतें एवं सुविधाएं

रेल मंत्रालय ने विकलांग व्यक्तियों/रोगियों को रेल यात्रा के किराए में रियायतें प्रदान की हैं। इंडियन एयर लाइंस ने दृष्टिहीन लोगों को सभी घरेलू उड़ानों के एक तरफ के किराए में 50 प्रतिशत छूट अथवा दोनों तरफ की यात्रा में एक तरफ का किराया माफ करने की व्यवस्था की है। किंतु उसके साथ रहने वाले को पूरा किराया देना होता हैं। विकलांगों के निजी उपयोग के विशिष्ट सामान जैसे – ब्रेल राइटर, अस्थि उपकरण, व्हील चेयर आदि को आयात शुल्क से मुक्त रखा गया है। दृष्टिहीनों अथवा स्थायी रूप से विकलांग लोगों को कुल वार्षिक आय में से 20,000 रुपये तक कोई कर नहीं देना पड़ता। शारीरिक रूप से विकलांग लोगों को लाभकारी स्वरोजगार शुरु करने के लिए 4 प्रतिशत ब्याज पर ऋण प्राप्त करने की सुविधा है। केंद्र सरकार के विकलांग कर्मचारियों को उनके मूल वेतन का 5 प्रतिशत या अधिकतम 100 रुपये प्रतिमाह वाहन भत्ता दिया जाता हैं। पैट्रोलियम मंत्रालय ने

सार्वजनिक क्षेत्र की तेल कंपनियों की सभी प्रकार की डीलरशिप के वितरण में 7.5% कोटा शारीरिक विकलांगों एवं दृष्टिहीनों के लिए निर्धारित किया है। विभिन्न राज्य सरकारें विकलांगों को बेरोजगार भत्ता, विवाह के लिए वित्तीय सहायता, बसों में निःशुल्क यात्रा और छात्रवृत्ति आदि सुविधाएं देती है। समन्वित शिक्षा योजना के अंतर्गत विकलांग बच्चों को सामान्य स्कूल प्रणाली से जोड़ा जाता है।

राष्ट्रीय संस्थान

विकलांगों को विभिन्न सुविधाएं प्रदान करने एवं समस्याओं से प्रभावी रूप से निपटने के उददेश्य से राष्ट्रीय संस्थानों की स्थापना की गई है – (1) राष्ट्रीय दृष्टि संस्थान देहरादून; (2) राष्ट्रीय आंगिक विकलांग संस्थान, कलकत्ता; (3) अलीयावर जंग राष्ट्रीय बधिर संस्थान, मुंबई; तथा (4) राष्ट्रीय मानसिक विकलांग संस्थान, सिकंदराबाद। यह संस्थान विकलांगो की शिक्षा, व्यावसायिक प्रशिक्षण, मार्गदर्शन, परामर्श, अनुसंधान, पुनर्वास और उपयुक्त विकास के क्षेत्र में विख्यात संस्थाएं हैं। ये संस्थाएं भिन्न प्रकार की विकलांगता के संबंध में सूचना और प्रलेखन केंद्रों का काम भी करती हें सहायक अंगों और उपकरणों का विकास तथा मानकीकरण और विकलांगों के प्रति सामाजिक जागरूकता पैदा करने के लिए इलेक्ट्रॉनिक एवं मुद्रित दोनों ही प्रकार की सामग्री तैयार करना भी इन संस्थाओं की जिम्मेदारी है। इन चार राष्ट्रीय संस्थानों के अतिरिक्त दो संस्थाएं तंत्रिकातंत्र संबंधी विकारों के कारण विकलांग व्यक्तियों को प्रतिक्षण सुविधाएं और सेवाएं प्रदान करने तथा, उनके पुर्नवास के लिए काम कर रही हैः

(1) राष्ट्रीय विकलांग संस्थान, नई दिल्ली; तथा

(2) राष्ट्रीय पुनर्वास, प्रशिक्षण और अनुसंधान संस्थान, उड़ीसा।

इसके अतिरिक्त विकलांगों के लिए सहायक अंग और उपकरणों के विकास और निर्माण के लिए 1976 से केंद्रीय सरकार के अधीन कानपुर में, भारतीय कृत्रिम अंग निर्माण निगम, काम कर रहा हे।

विदेशी सहायता

कल्याण मंत्रालय विकलांगों के लिए विदेशों से उपहार के रूप में सहायता प्राप्त करने के लिए भारत और कुछ अन्य देशों के बीच समझौतों पर अमल कर रहा है। इस संबंध में जर्मनी, स्वीडन, स्विटज़रलैंड, ब्रिटेन और अमरीका के साथ समझौते किए गये है। इन समझौतों के अंतर्गत अनाज, मिल्क पाउडर, पनीर, डिब्बा बंद खाद्य पदार्थ, दवाएं, विटामिन युक्त गोलियाँ, अस्पतालों में काम कने वाले उपकरणों, आदि, की आपूर्ति की जाती है। ये वस्तुएं उक्त पाँच देशों में स्थित मान्यता प्राप्त संगठनों द्वारा मान्यता प्राप्त भारतीय संगठनों को दी जाती हैं।

राष्ट्रीय पुरस्कार

प्रतिवर्ष मार्च के तीसरे रविवार को विश्व विकलांग दिवस के अवसर पर भारत के राष्ट्रपति (1) विकलांगों के सर्वश्रेष्ठ नियोक्ता (2) सर्वोत्कृष्ट विकलांग कर्मचारी और स्व-व्यवसायी (3) विकलांगों के कल्याण के क्षेत्र में सर्वश्रेष्ठ कार्यकर्त्ता (4) विकलांगों के कल्याण में लगे सर्वश्रेष्ठ संस्थान (5) रोजगार दिलाने वाले सर्वश्रेष्ठ अधिकारी (6) विकलांग कल्याण के लिए राष्ट्रीय प्रौद्योगिकी पुरस्कार प्रदान करते हैं।

प्रयास कितने कारगर ?

अब प्रश्न यह उठता है कि इन योजनाओं का क्रियान्वयन कितने प्रभावी ढ़ंग से हा रहा है ? कितने विकलांग व्यक्ति इन योजनाओं से लाभान्वित हो रहे हैं ? और कितने इन सुविधाओं से वंचित रह कर अपने भाग्य के सहारे जी रहे हैं ? यदि यह कहा जाए कि यह समस्त व्यवस्थाएं सागर में केवल बूँद के समान हैं तो अतिशयोक्ति न होगी क्योंकि राष्ट्रीय नमूना सर्वेक्षण संगठन द्वारा 1991 में कराए गए सर्वेक्षण के अनुसार देश में 1.61 करोड़ व्यक्ति शारीरिक अक्षमता से पीड़ित हैं, जो देश की कुल आबादी का 1.9% है। संगठन द्वारा एक और सर्वेक्षण कराया गया जिसमें 0-14 वर्ष तक ही आयुवर्ग के बच्चों में मानसिक विकलांगता की जानकारी प्राप्त हुई। इसकी रिपोर्ट के अनुसार शहरी इलाकों में अल्पविकसित मस्तिष्क वाले बच्चों की संख्या 29 प्रति हजार थी, जबकि ग्रामीण क्षेत्रों में यह 30 प्रति हजार पाई गई।

आज वस्तुस्थिति यह है कि अधिकतर विकलांग अपने को दूसरों की दया पर निर्भर मानकर समाज पर भार बनकर, येन-केन-प्रकारेण अपना जीवन व्यतीत कर रहे हैं। सड़कों,

गलियों, सार्वजनिक, स्थलों पर हाथ फैलाए अपंग बालक-बालिकाएं, किशोर-किशोरियाँ, युवक-युवतियाँ, वृद्ध-वृद्धाएं प्रातः से सायं तक भरपेट रोटी पाने में असमर्थ रह कर भी किसी आशा के सहारे यंत्रणा, ताड़ना, दुत्कार, भूख और प्राकृतिक प्रकोपों के मध्य अभावों का जीवन जीने को बाध्य हैं। यदि कभी इन निरीह प्राणियों की ओर देखें तो पायेंगे कि इनमें से अधिकांश की रूखी आँखों में जहाँ याचना है वहाँ एक प्रश्न भी है 'हम दो रोटी पाने और इस अपाहिज देह को जीवित रखने के लिए कितना श्रम करते हैं ? कितनी भर्त्सना और अपमान सहते हैं ? क्या यह संभव नहीं है कि हमारी देह जैसी भी है, हम उसका पूर्ण उपयोग कर सकें, इसी अवस्था में इस जीवन को जीने योग्य बना कर समाज में सम्मान से रह सकें' ?

अंत में इनकी हृदयगत भावनाओं को सम्मान देते हुए यही हृदयोदगार प्रस्फुटित हो रहे हैं कि समाज में जो भी अंधे, अपाहिज, लूले-लंगड़े या किसी भी रूप में विकलांग है। वे तिरस्कार एवं घृणा के पात्र नहीं है, हमें उनके साथ सहृदयतापूर्वक मानवीय व्यवहार करना चाहिए। कहा भी गया है कि – "आत्मनः प्रतिफूलानि परेषां न समाचरेत"। अर्थात् जिसे अपने लिए प्रतिकूल समझते हो, अन्य के लिए उसका आचरण मत करो।

संदर्भ सूची

1. A.A.Said-Human Righats - World ordr.
2. S.C. Kasyyap - Parliament - Human Rights.
3. J.R. Fredman - Human Righats - Internationalism.
4. Lauterpacht I- International Law - human Rights
5. मानवाधिकार आयोग 1946 (प्रारूप की रचना)।
6. मानव अधिकारों का सार्वभौमिक घोषणा पत्र 10 दिसंबर, 1948।
   (संयुक्त राष्ट्र महासभा द्वारा घोषित व स्वीकृत)।
7. मानव अधिकार संरक्षण अधिनियम 1993।
8. राष्ट्रीय मानव अधिकार आयोग 1994।
9. आठवीं पंचवर्षीय योजना।
10. भारत 1996 (वार्षिक पत्रिका)।
11. भारत 1998 (वार्षिक पत्रिका)।

12

मानव अधिकारों का क्रमिक विकास

*–डॉ. डी.एस. बिष्ट**

मानव के संपूर्ण इतिहास को यदि हम देखें तो यह पता चलता है कि मानव जीवन एवं उसकी मर्यादा की सर्वथा उपेक्षा की गई है और उसका तिरस्कार किया गया है। ऐसा ही नहीं, व्यक्ति के आम नियमों के विचार भी सदियों पुराने हैं। अधिकारों को सुनिश्चित करने के लिये अधिनियम सभी समाजों में देखने को मिलते हैं। प्राचीन काल में प्राकृतिक विधि के अंतर्गत वह नियम आते थे जो आम व्यक्ति के जीवन के लिए नितांत वह नियम आते थे जो आम व्यक्ति के जीवन के लिए नितांत आवश्यक एवं अपरिहार्य थे। प्राकृतिक विधि के तहत मान्य समानता के सिद्धांत को काफी समय पूर्व राजनैतिक अधिकारों के मानक स्वरुप स्वीकार भी कर लिया गया था। तथपि व्यक्ति के अधिकारों के अनुपालन में विभेद भी किया जाता रहा, जिसके लिए कोई तर्क अवश्य मौजूद रहात था- किसी समूह या वर्ग के लोगों के अधिक सक्षम हाने के भ्रामक दावे करना, अनुवांशिक रूप से किसी को निम्न ठहराना, इत्यादि तर्क प्रचलित थे। 19 वीं शताब्दी के पूर्व ऐसे तर्क के द्वारा दास प्रथा को न्यायोचित ठहराया जाता था, महिलाओं एवं श्रमिकों की कुछ श्रेणियों का शोषण किया जाता था, भूमिहीन किसानों के अधिकारों का हनन किया जाता था आदि। आज के आधुनिक समाज में त्वचा के रंग के आधार पर महिलाओं एवं व्यक्तियों में विभेद को तर्कसंगत करार दिया जाता है।

समानता के तत्व तथा अन्य समान सिद्धांतों को, जिन्हें आज हम मानव अधिकार की श्रेणी में गिनते हैं, अधिकांश सभ्यताओं में, संस्कृतियों में, धर्म तथा दार्शनिक परंपराओं में देखा जा सकता है। धर्मविज्ञान के माध्यम से विकसित ऐसी ही एक परंपरा है जिसे प्राकृतिक विधि कहते हैं। समय-समय पर समाज के विभिन्न वर्गों को स्वतंत्रताओं व अधिकारों की प्राप्ति विभिन्न विधिक प्रयासों से होती रही है। इस क्रम में जी प्रारंभिक कदम उठाये गए उनका सरोकार संबंधित राज्य के नागरिकों तक ही सीमित था अर्थात् वह सभी राष्ट्रीय प्रयास थे, अंतर्राष्ट्रीय नहीं।

राष्ट्रीय प्रयास

प्राचीन विधिक संहिताओं में व्यक्तिगत स्वतंत्रता को कोई विशेष स्थान नहीं दिया जाता था। ऐसे प्राचीन प्रयासों को आज हम अधिकारों की संहिता मान सकते हैं यद्यपि उनका संबंध आम जनता से नहीं होता था। ऐसे प्रयासों का विकास राष्ट्रीय स्तर पर मुख्य रूप से राजाओं तथा सामंती सभाओं के मध्य समझौते का स्वरूप ही होता है।

सन् 1188 में ऐसे ही एक प्राचीन समझौते का विकास हुआ जब आईबेरियन महाद्वीप के लियोन राज्य की सामंती सभा को – जिसे 'कोर्टस' के नाम से जाना जाता था – राजा ऐलफेन्सों IX के द्वारा अधिकारों की एक शृंखला प्राप्त हुई इसके द्वारा अभियुक्त को निरंतर विचार का अधिकार, जीवन प्रतिष्ठा, घर एवं संपत्ति के अनातिक्रमण का अधिकार प्राप्त हुआ था। सन 1222 में हंगरी के राजा ऐंड्रयू द्वितीय ने अति अभिजात वर्ग को अन्य अधिकारों के अतिरिक्त यह भी गारंटी दी कि उन्हें विधिक प्रक्रिया के अनुरूप दोष सिद्धि के पूर्व गिरफ्तार अथवा दंडित नहीं किया जाएगा।

इस क्रम में सबसे विख्यात एवं प्रभावी प्रतिज्ञा सन् 1215 के ब्रिटेन के मैग्नाकार्टा में देखने को मिलती है जिसे राजा जॉन ने रनीमेड नामक स्थान पर अपने सामंतों के दबाववश स्वीकार किया था। ऐतिहासिक दृष्टि से यह चार्टर सामान्य

*वरिष्ठ प्रवक्ता, समाजशास्त्र विभाग, कुमाऊँ विश्वदियालय, नैनीताल 263001 (उत्तरांचल)

विधि का सर्वप्रथम विस्तृत विवरण है – राजा एवं सामंतों के बीच प्रथम एवं सुस्पष्ट ऐसा समझौता जिसमें राजा अपने सामंतों से क्या अपेक्षा कर सकता था तथा सामंत अपनी जनता से क्या अपेक्षा कर सकते थे, उनका उल्लेख इसमें किया गया था। इस चार्टर में समाज एवं प्रशासन से संबंधित बहुआयामी उपबंध सम्मिलित थे। इसमें कुछ ऐसे उपबंध भी शमिल थे जो उस समय के प्रचलित अवगुणों को भी दृष्टिगत करते थे। उस समय के समाज में धर्म एक केंद्रीय भूमिका निभाता था। अतः चार्टर के प्रथम उपबंध में गिरजाघरों में स्वतंत्र चुनाव की आवश्यकता को सुनिश्चित किया गया। इसके साथ ही इसमें सामंतों से संबंधित अनेक उपबंध हैं जिनमें उनके उत्तराधिकार के विषय में अनेक नियम व शर्तें हैं, यद्यपि चार्टर का कतिपय उद्देश्य यह नहीं था कि उसके द्वारा आम व्यक्तियों के अधिकारों एवं उसकी स्वतंत्रताओं का प्रबंध किया जाए, तथापि चार्टर के उपबंध क्रमांक – 20, 39, 40 व 42 से हमें आम जनता की व्यक्तिगत स्वतंत्रता का भी आभास मिलता है।

उपबंध क्रमांक 20 के अनुसार यह प्रावधान किया गया कि अपराध के स्वरूप के अनुरूप ही दंड का प्रावधान किया जाए तथा घोर अपराधों में भी दंड का स्वरूप इतना भीषण न हो कि अभियुक्त अपनी जीविका या जीवन से हाथ धो बैठे। उपबंध 39 में यह प्रबंध किया गया कि किसी भी आम व्यक्ति को उसके धर्मगुरू के आदेश अथवा उसके राज्य की विधि के विधान के अतिरिक्त न तो हिरासत में लिया जायेगा और न ही किसी अन्य राज्य से निर्वासित किया जाएगा। उपबंध 42 में यह प्रावधान था कि विधि द्वारा बहिष्कृत/प्रतिबंधित एवं कैदियों के अतिरिक्त सभी व्यक्तियों को शांतिकाल के दौरान सर्वत्र आवागमन की स्वतंत्रता होगी।

उपरोक्त प्रावधान आज के समय में अत्यंत ही सामान्य प्रतीत होते हैं, किंतु इनका प्रबंध उस काल में किया जाना जब सामंत राजा सर्वोच्च हुआ करते थे, और आम जनता उनकी भक्त स्वरूप हुआ करती थी, निश्चित ही एक क्रांतिकारी पहल मानी जा सकती है।

17वीं शताब्दी में इंग्लैंड में वहां के नागरिकों ने अधिकारों के लिए एक स्मरणातीत संघर्ष किया, जिसकी महत्वपूर्ण उपलब्धि थी – अधिकार की अंग्रेजी याचिका (1628) तथा अधिकारों का अंग्रेजी विधेयक (1689)। इस विधेयक को ब्रिटेन की संसद ने विधि का रूप प्रदान किया हैं। इसमें प्रमुख रूप से व्यक्तियों के अधिकारों एवं स्वतंत्रताओं तथा राजा के उत्तराधिकार के विषय में घोषणा की गई। मुख्य रूप से तो राजा के उत्तराधिकार से संबंधित ही उपबंध इसमें थे, क्योंकि इसके अतिरिक्त जो कुछ भी इसमें सम्मिलित था वह पूर्व में घोषित उपकरणों/उपबंधों में मौजूद था। तथापि विधेयक के माध्यम से व्यक्तिगत स्वतंत्रता एवं मानव मर्यादा को पुनः मान्यता प्रदान की गई। इसके द्वारा प्रजा को राजा के समक्ष आवेदन करने एवं याचिका प्रस्तुत करने का अधिकार दिया गया। यदि व्यक्ति प्रोटेस्टेंट है तो उसे अपनी सुरक्षा हेतु शस्त्र रखने का अधिकार भी प्रदान किया गया। राजनैतिक क्षेत्र में संसद सदस्यों के चुनाव को स्वतंत्र रूप से निष्पादित करने के प्रावधान के साथ ही यह भी सुनिश्चित किया गया कि संसद के दौरान सांसदों को भाषण एवं बहस करने की स्वतंत्रता होगी, तथा ऐसे वक्तव्यों को संसद के बाहर चुनौती या उन पर प्रश्न नहीं किया जा सकेगा। इसके अलावा अत्यधिक जुर्माने को तथा क्रूर व अमानवीय दंड को भी निषिद्ध किया गया। दोष सिद्धि के पूर्व दंड न दिया जाना तथा शिकायत के निदान व विधि के संरक्षण हेतु संसद का सहारा लेने का प्रावधान भी इस विधेयक में किया गया था।

इसके अलावा स्वतंत्रता की अमरीकी घोषणा (1776) तथा अधिकारों के अमरीकी विधेयक (1791) में भी हमें पूर्व के दस्तावेजों का अनुकरण मिलता है, जिसमें अनेक ऐसे प्रावधानों को सम्मिलित किया गया जो इससे पहले भी अपनाए जा चुके थे। अमरीकी घोषणा में संभवतः पहली बार समानता के संदर्भ का उल्लेख किया गया, उसमें यह घोषणा की गई - "कि सभी व्यक्ति जन्म से समान हैं तथा उन्हें कुछ गैर अपहरणीय अधिकार प्रदत्त हैं, जिनमें जीवन, स्वतंत्रता एवं सुख प्राप्ति प्रमुख हैं। इन अधिकारों की प्राप्ति के लिए व्यक्तियों द्वारा सरकार को गठन किया जाता है.... तथा जब कभी कोई सरकार इन अधिकारों का उल्लंघन करें तो जनता को यह अधिकार है कि वह सरकार को भंग कर दें या बदल दे। जनता को नवीन सरकार का गठन करना चाहिये....। सरकार को ऐसे सिद्धांतों पर आधारित होना चाहिये तथा उसकी शक्तियों को इस प्रकार सीमित होना चाहिए कि जनता अपनी अधिकतम खुशहाली प्राप्त कर सके.....।"

अमरीकी विधेयक में राज्य के कृत्यों के विरुद्ध व्यक्ति को संरक्षण का अधिकार प्रदान किया गया, जैसे बंदी प्रत्यक्षीकरण, आपराधिक मामलों में विधिक सुनवाई का अधिकार, दासता उन्मूलन आदि। इसके अलावा राज्य किसी भी व्यक्ति को उसके जीवन, उसकी स्वतंत्रता तथा उसकी संपत्ति से बेदखल नहीं कर सकता था। इसमें व्यक्ति को विधि का समान संरक्षण तथा जाति, रंग, लिंग व पूर्व की दासता के आधार के बिना, सभी को, मत देने का अधिकार भी शामिल किया गया।

उपरोक्त तथ्यों के आधार पर हम यह कह सकते हैं कि केवल ब्रिटेन ने ही अन्य देशों में अधिकारों का निर्यात नहीं किया। अमरीकी उपकरणों से यह भी स्पष्ट होता है कि उन पर फ्रांसीसी दार्शनिकों एवं विचारों का भी पर्याप्त प्रभाव था। फ्रांस ने जो दार्शनिक सहयोग अन्य देशों को दिया उसका असर स्वयं फ्रांस में व्यक्ति तथा नागरिकों के अधिकारों की फ्रांसीसी घोषणा को अपनाया गया। इस घोषणा में पूर्व में अपनाये गए अमरीकी उपकरणों की छवि स्पष्ट रूप से देखने को मिलती है।

अधिकारों के विधेयक के रूप में तथा व्यक्तिगत स्वतंत्रताओं की गारंटी प्रदान कर जो कदम ब्रिटेन, अमरीका व फ्रांस ने उठाये थे उनका अनुकरण 19वीं एवं 20वीं शताब्दी में विश्व के समस्त अन्य राज्यों ने संविधानों में उपरोक्त स्वतंत्रताओं व अधिकारों को सम्मिलित कर एवं उनकी गारंटी प्रदत्त करके किया।

मानव अधिकारों के क्षेत्र में अंतर्राष्ट्रीय प्रयास की शुरुआत हम सन् 1555 से मान सकते हैं जब ऑग्सबर्ग की शांति नामक संधि पर करार हुआ, जिसके तहत् यह घोषणा की गई कि संपूर्ण रोम साम्राज्य में धर्म की स्वतंत्रता होगी। इसके द्वारा उस समय कैथोलिक व ल्यूथेरेन धर्म के अनुयाईयों को समान स्वतंत्रता व समान दर्जा दिया गया। धार्मिक स्वतंत्रता में अप्रत्यक्ष रूप से अन्य स्वतंत्रताएं भी सम्मिलित थीं : जैसे संगम की स्वतंत्रता, संघ बनाने की स्वतंत्रता तथा अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता। तत्पश्चात् यह देखा जाने लगा कि जब भी कोई राज्य किसी नये राज्य को उपनिवेश बनाता था तो वह वहाँ के निवासियों की विशिष्ट संस्थाओं तथा उनके धर्म को यथावत् रखते हुए उनका सम्मान करता था। उदाहरण के लिये जब ब्रिटेन साम्राज्य ने फ्रांस के अधीनस्थ दो क्षेत्रों – अकेडिया व क्यूबेक पर अपना शासन स्थापित किया तो 1713 में ब्रिटेन ने उन क्षेत्रों के कैथेलिक संप्रदाय के व्यक्तियों को उनके धर्म की स्वतंत्रता प्रदान की। यह उदाहरण इसलिए महत्वपूर्ण है क्योंकि उस समय ब्रिटेन में निवास कर रहे कैथोलिक धर्म के लोगों को यह स्वतंत्रता प्राप्त नहीं थी।

अंतर्राष्ट्रीय विधि द्वारा मानव अधिकारों की पहली मान्यता धर्म की स्वतंत्रता में ही देखी जा सकती है। इसके पश्चात् उन्नीसवीं शताब्दी में अनेक संधियां संपन्न हुईं, जिनका संबंध दासता व दास-व्यापार से था। दासता के उन्मूलन हेतु सन् 1926 में हुए सम्मेलन कन्वेंशन में दासता को परिभाषित करते हुए बताया गया कि यह व्यक्ति की वह परिस्थिति है जिस पर स्वामित्व का अधिकार प्रभावी होता हो।

दासता की दास्तान उतनी ही प्राचीन है जितना कि इस पृथ्वी पर व्यक्ति का जीवन। यूनान व रोम की सभ्यताओं के आर्थिक व सामाजिक तंत्र को कायम रखने के लिये यदि कोई व्यवस्था जिम्मेदार थी तो वह थी दास व्यवस्था। इस व्यवस्था का उस समय के नैतिकतावादियों ने भी समर्थन किया था। रोम साम्राज्य में जब दास व्यक्तियों की दशा अत्यंत ही दयनीय अवस्था को प्राप्त हुई, तब वहाँ के कानून में उनके संरक्षण तथा उन्हें विधिक जीवन हेतु कुछ प्रावधान दिए गए। उस दौरान विश्व के अन्य देशों में भी संधियों द्वारा दासता के उन्मूलन पर प्रावधानों को रचा गया।

दासता के उन्मूलन के लिये विशेष योगदान ब्रिटेन राज्य द्वारा किया गया। सन् 1772 में ब्रिटेन ने अपने राज्य में दासता को गैर-कानूनी दर्जा प्रदान किया और 1834 में संपूर्ण ब्रितानिया साम्राज्य में इसको प्रतिबंधित किया।

1855 में हुए मध्य अफ्रीका के बर्लिन सम्मेलन में भी इस विषय पर संयुक्त प्रयास किये गए और कई संबंधित संधियों का निर्माण किया गया। सन् 1890 में हुए द्वितीय ब्रूजेल्स सम्मेलन में न केवल दासता के उन्मूलन पर चर्चा हुई बल्कि दास व्यापार के उन्मूलन के लिये संगठित रूप से कार्य करने के लिये दो अंतर्राष्ट्रीय संस्थाओं का भी निर्माण किया गया।

प्रथम विश्व युद्ध के पश्चात् बने राष्ट्र संघ में दासता

के विषय पर अत्यधिक कार्य किया गया। न केवल राष्ट्र संघ की प्रसंविदा में इससे संबंधित प्रावधानों को रखा गया बल्कि 1924 में दासता का अस्थायी आयोग गठित किया गया, जिसका कार्य संबंधित विषय पर जानकारी एकत्रित करना था। इसके बाद 1932 में दासता के विशेषज्ञों की एक परामर्श-समिति का गठन किया गया। संयुक्त राष्ट्र संघ ने भी इस विषय पर महत्वपूर्ण कार्य किये हैं।

19वीं शताब्दी के मध्यकाल से ही एक अन्य महत्वपूर्ण विषय पर अंतर्राष्ट्रीय विधि के निर्माण की बात शुरु हुई। इसका संबंध मानवतावादी विधि या सशस्त्र मुठभेड़ की विधि से था। इसका प्रमुख उद्देश्य बीमार व घायल सैनिकों तथा युद्धबंदियों को सहायता प्रदान करना था। 22 अगस्त, 1964 को हुये जिनेवा अभिसमय में यह अनुबंधित किया गया कि सभी राज्य सैनिक अस्पतालों व वहाँ के कर्मचारियों को उन्मुक्तता प्रदान करेंगे, बीमार व घायल सैनिकों की देखभाल करेंगे तथा रेडक्रास के कार्यों को सम्मान देंगे। आने वाले वर्षों में यह व्यवस्था समुद्री सैनिकों को भी सुलभ कराई गई। 1906 में हुये बर्न सम्मेलन में दो ऐसे अभिसमय अपनाये गए जिन्होंने भविष्य में अपनाये जाने वाले अनेक कन्वेन्शनों के लिए मानक का कार्य किया। यह अभिसमय थेः औद्योगिक नियोजन में महिलाओं के रात्रि कार्य पर प्रतिबंध तथा दियासलाई में सफेद फासफोरस के प्रयोग को सम्मान प्रदान करने का अंतराष्ट्रीय कन्वेन्शन।

अंतर्राष्ट्रीय विधि का एक परंपरागत नियम यह था कि राज्य अपने राज्य क्षेत्र में निवास कर रहे विदेशियों के साथ एक न्यूनतम-निष्पक्ष व्यवहार करें। यद्यपि ऐसे व्यवहार के करने बाबत राज्य द्वारा घोषणा नहीं की जाती थी तथापि यदि विदेशियों को आवागमन की अनुमति दी गई है तो राज्यों को उनके साथ व्यवहार के लिये एक मानक अंतर्राष्ट्रीय व्यवहार करना पड़ता था और यदि ऐसा नहीं होता था तो संबंधित राज्य को क्षतिपूर्ति करनी पड़ सकती थी। विदेशों में हुई क्षतिपूर्ति के अनुरूप ही क्षतिपूर्ति की समीम तय की जाती थी किंतु क्षतिपूर्ति सिद्धांत विदेशी के मूल राज्य को ही प्राप्त होती थी। इस तथ्य से यह बात स्पष्ट होती है कि प्राचीन समय में भी राष्ट्रीयता का होना अनिवार्य एवं आवश्यक था। विदेशियों के संबंध में जो भी विधिक होना अनिवार्य एवं आवश्यक था। विदेशियों के संबंध में जो भी विधिक स्थिति मौजूद थी वह वस्तुतः राज्यों के बीच हुए करार की ही उपलब्धि थी। वस्तुतः क्षतिग्रस्त व्यक्ति को क्षतिपूर्ति को कोई अंतर्राष्ट्रीय अधिकार नहीं था, उसे कोई ऐसी प्रत्याभूति प्राप्त नहीं थी कि राज्य उसके लिये दावा पेश करेगा और उसे यह भी अधिकार नहीं था कि जो क्षतिपूर्ति उसके एवज में राज्य को मिली है उसे वह प्राप्त कर सके।

इस प्रावधान के द्वारा सिद्धांततः सभी राज्यों को संबंधित अधिकार प्राप्त थे और उनके चलते अप्रत्यक्ष रूप से नागरिकों को भी। किंतु व्यवहार में ऐसा संभव नहीं था। सामान्यतः शक्तिशाली राज्यों द्वारा ही उनके नागरिकों के संबंध में ऐसे दावे प्रस्तुत किये जाते थे और वह भी तब जब विपक्षी राज्य तुलनात्मक रूप में कमजोर शक्ति का हो। एक शक्तिशाली राज्य होने के कारण ब्रिटेन अपने नागरिकों के पक्ष में ऐसे अधिकार का दावा कर सकता था लेकिन एक कमजोर राज्य के लिए ऐसा करना संभव नहीं था। अंतर्राष्ट्रीय विधि के क्षेत्र में यह एक ऐसा प्रावधान था जिसके द्वारा शक्तिशाली राज्य/व्यक्ति को ही संरक्षण प्राप्त था, कमजोर को नहीं।

विदेशियों के साथ न्यूनतम व्यवहार का स्तर क्या हो इस विषय पर भी मतभेद व्याप्त थे। कुछ राज्यों का मत था कि विदेशी व्यक्ति के साथ उसी स्तर का व्यवहार हो जो उसे अपने राज्य में सुलभ है अर्थात् उस व्यक्ति को सर्वत्र एक सा व्यवहार मिलना चहिए। दूसरी तरफ कुछ राज्यों का मानना था कि विदेशियों के साथ व्यवहार के लिये एक अंतर्राष्ट्रीय मानक हो, भले ही वह स्तर विदेशी के मूल श्राज्य के व्यवहार से अधिक या कम हो। सामान्यतः दूसरे मत के अनुरूप ही क्षतिपूर्ति को प्रावधान किया जाता रहा है जिसके चलते अक्सर यह देखा गया कि अंतर्राष्ट्रीय विधि में विदेशी अवस्था में व्यक्ति को बेहतर व्यवहार मिलता था- वहीं व्यक्ति जब अपने राज्य में होता तो उसे कम व्यवहार मिलता।

इस तरह से पारंपरिक अंतरराष्ट्रीय विधि में अप्रत्यक्ष रूप से विदेशियों के संरक्षण की व्यवस्था थी। लेकिन एक नागरिक के साथ उसका राज्य किस स्तर का व्यवहार करता है इस पर अंतर्राष्ट्रीय विधि का कोई हस्तक्षेप नहीं था। किंतु इसमें कई अपवाद देखने को मिलते हैं। यदि किसी राज्य द्वारा अपने नागरिकों के साथ लगातार नृशंस अत्याचार किया जाता, जिसे कि मानव अंतःकरण ही आघातित हो उठता तो अन्य अन्य राज्यों को हस्तक्षेप का अधिकार था। ऐसा हस्तक्षेप किसी राज्य तो अन्य राज्यों को हस्तक्षेप का अधिकार था। ऐसा हस्तक्षेप किसी राज्य द्वारा अकेले या सामूहिक रूप से शक्ति द्वारा भी किया जाता था। ऐसे हस्तक्षेप को मानवतावादी हस्तक्षेप की संज्ञा दी जाती थी जिसका प्रमुख उद्देश्य राज्यों को उनके नागरिकों के अधिकारों के धाराओं के उल्लंघन को रोकना था।

यद्यपि इस प्रकार के हस्तक्षेप का स्पष्ट उल्लेख पारंपरिक विधि में नहीं मिलता है, किंतु 19वीं शताब्दी में कई ऐसे हस्तक्षेप के उदाहरण हैं, विशेष तौर पर ऑटोमन साम्राज्य में धार्मिक रूप से अल्पसंख्यकों के संरक्षण हेतु। यह निश्चित नहीं था कि किस राज्य या सरकार के विरुद्ध हस्तक्षेप किया जायेगा, यइ भी स्पष्ट नहीं है कि ऐसी कोई विधि प्रचलित रही थी, परंतु इसका प्रयोग पुनः शक्तिशाली राज्यों द्वारा कमजोर राज्यों पर ही किया जाता था। यह एक रोचक तथ्य ही है कि 1930 के दशक में नाजियों के अत्याचारों के विरुद्ध इसका प्रयोग नहीं किया गया। आज के समय में ऐसे हस्तक्षेपों को निषिद्ध किया गया है। संयुक्त राष्ट्र के चार्टर के अनुच्छेद 2 (4) में यह उल्लेखित है कि सभी सदस्य राज्य कोई ऐसा कृत्य नहीं करेंगे जिससे किसी अन्य राज्य की भौगोलिक अखंडता या राजनैतिक स्वतंत्रता को खतरा हो। इसके अलावा 1965 में महासभा ने एक प्रस्ताव पारित किया जिसमें कहा गया कि किसी भी राज्य को यह अधिकार नहीं है कि, वह प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप में, हस्तक्षेप करें। किंतु संयुक्त राष्ट्र संघ ऐसे मामलों में निश्चित ही शक्ति का प्रयोग या हस्तक्षेप कर सकता है जहाँ उसे अंतर्राष्ट्रीय शांति व सुरक्षा का खतरा नजर आता हो।

उपरोक्त राष्ट्रीय व अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर किये गए सीमित प्रयासों के अवलोकन से यह ज्ञात होता है कि व्यक्ति के अधिकारों के संबंध में जागरूकता मानव इतिहास के साथ ही जुडी है। किंतु सही अर्थ में कहा जाने वाला अंतरर्राष्ट्रीय प्रयास इस संदर्भ में द्वितीय विश्व युद्ध के दौरान ही देखने को मिलता है। संयुक्त राष्ट्र चार्टर के निर्माण के दौरान तथा उसके अस्तित्व में आने के पश्चात् स्वयं संयुक्त राष्ट्र संघ द्वारा किए गए प्रयास ही अंतर्राष्ट्रीय स्तर के हैं।

वास्तव में देखा जाये तो उपनिवेशवाद के विरुद्ध आंदोलन मूलतः मानव अधिकारों की प्राप्ति के लिए ही आंदोलन था। यद्यपि राष्ट्रीय संविधानों में मानव अधिकारों को सम्मिलित कर संरक्षित किया गया, किंतु इन अधिकारों को कई बार, विधायी प्रक्रिया या मनमाने ढंग द्वारा विलोपन भी किया जाता रहा। विधिक प्रस्थिति होने के बावजूद इन अधिकारों का उल्लंघन अक्सर राज्य द्वारा किया जाता है। अतः यद्यपि विधिक गारंटियों के द्वारा मानव अधिकारों की मान्यता स्थापित की गई तथापि उन्हें चरितार्थ करने के लिये यह आवश्यक है कि उनका अनुपालन व क्रियान्वयन हो।

मानव अधिकारों की प्रत्याभूति तथा उनका संरक्षक राज्य है। राज्यों के बीच संबंधों को संचालित करने वाले प्रथागत नियम के अनुसार किसी भी राज्य की सरकार को सिद्धांततः यह अधिकार नहीं था कि वह दूसरे राज्य के क्रियाकलापों में हस्तक्षेप करे। किंतु प्रथम विश्व युद्ध के पश्चात् से यह विचार उभरने लगा कि इन अधिकारों के संरक्षण के लिए संबंधित सरकार या राज्य के प्रयास पर्याप्त नहीं हैं, अब इन अधिकारों के सरंक्षण के लिये अंतरर्राष्ट्रीय के लिए वास्तविक दबाव द्वितीय विश्व युद्ध के पश्चात् ही हुआ जब सर्वाधिकारवादी शासकों ने अपने ही राज्यक्षेत्रों में मानव अधिकारों का घोर व भीषण उल्लंघन किया। उन्होंने जाति, धर्म व राष्ट्रीयता के कारण समस्त समूहों का विलोपन किया। इस महायुद्ध के दर्दनाक अनुभवों ने एक व्यापक विश्वास को जन्म दिया। वह यह कि अंतरर्राष्ट्रीय शांति व प्रगति की अगर कोई आधारभूत शर्त है, तो वह है मानव अधिकारों को प्रभावी अंतर्राष्ट्रीय संरक्षण इस विश्वास की सर्वप्रथम अभिव्यक्ति संयुक्त राष्ट्र के चार्टर में हुई। चार्टर के पहले अनुच्छेद में यह कहा गया कि संयुक्त राष्ट्र संघ का एक उद्देश्य यह भी है कि वह मानव अधिकारों व मौलिक स्वतंत्रताओं के प्रति सम्मान को प्रोत्साहित करें व समर्थन करने के लिए अंतर्राष्ट्रीय सहयोग की प्राप्ति करे। चार्टर के अनुच्छेद 55 में भी समकक्ष उद्देश्य दिये गए हैं।

अनुच्छेद 56 में यह कहा गया कि अनुच्छेद 55 में परिभाषित उद्देश्यों की प्राप्ति हेतु संयुक्त राष्ट्र के सदस्य, संयुक्त तथा अथक प्रयासों द्वारा, सहयोग का प्रण करते हैं।

चार्टर के उपबंधों में अंतर्राष्ट्रीय विधि की शक्ति है, क्योंकि चार्टर एक संधि है, अतः यह विधिक रूप से बाध्यकारी है। संयुक्त राष्ट्र के संघ के सदस्य राज्यों का यह दायित्व है कि वह चार्टर के तहत अपनी सभी बाध्यताओं की पूर्ति करें, जिसमें मानव अधिकारों के प्रति सम्मान व अनुपालन को बढ़ावा देना शामिल है। इस लक्ष्य की प्राप्ति हेतु राज्य संयुक्त राष्ट्र व अन्य राज्यों के साथ सहयोग करने के लिये स्वतंत्र है।

संयुक्त राष्ट्र चार्टर के अनुच्छेद 2 (7) में यह उपबंध है कि संयुक्त राष्ट्र संघ किसी भी राज्य के ऐसे मामले में हस्तक्षेप नहीं करेगा जिसका संबंध घरेलू नीति या आंतरिक मामलों से हो। जो राज्य मानव अधिकारों के विषय में अपनी वचनबद्धता का परिपालन नहीं करते वह अक्सर उपरोक्त अनुच्छेद का सहारा लेकर स्वयं को अंतर्राष्ट्रीय बहसों से राज्य अपने मामलों में संयुक्त राष्ट्र संघ के हस्तक्षेप का विरोध करते हैं। किंतु यही राज्य संयुक्त राष्ट्र के संघ के हस्तक्षेप का विरोध करते हैं। किंतु यही राज्य संयुक्त राष्ट्र के अन्य सदस्य राज्यों के समकक्ष मामलों से संबंधित प्रस्तावों पर अपनी सहमति व्यक्त करने से भी नहीं चूकते। यद्यपि अहस्तक्षेप का सिद्धांत अंतर-राज्य संबंधों का एक स्थापित नियम है किंतु राज्य अक्सर राजनैतिक कारणों के चलते इसका प्रयोग अनुचित व पक्षताप रूप से करते हैं, जिस कारण कुछ राज्य इस विषय पर अपनी प्राथमिकताएं बदलते रहते हैं। अनुच्छेद 2 (7) की व्यापक रूप से स्वीकृत व्याख्या यह है कि हस्तक्षेप का संबंध मुख्यतः भौतिक-शारीरिक हस्तक्षेप से है, अतः राज्यों के आंतरिक विषयों पर बहस करना या उनका परीक्षण करना हस्तक्षेप नहीं होता। अहस्तक्षेप के नियम सही प्रयोग कैसे किया जाये इसका कोई सरल जवाब या उपाय नहीं दिया जा सकता। लेकिन यह अवश्य कहा जा सकता है कि इस नियम का प्रयोग जितना अधिक होगा, मानव अधिकारों को संरक्षण व प्रवर्तन उतना ही सुदृढ़ होगा।

मानव अधिकार आयोग का गठन

उपरोक्त अवधारणाओं को मूर्त रूप प्रदान करने के लिए तथा संयुक्त राष्ट्र के चार्टर में वर्णित अधिकारों व स्वतंत्रताओं को परिभाषित करने के लिये सन् 1945 में संयुक्त राष्ट्र मानव अधिकार के आयोग का गठन किया गया। जिसे मानव अधिकारों के अंतर्राष्ट्रीय विधेयक के निर्माण का कार्य सौंपा गया। अथक परिश्रम के उपरांत अंतर्राष्ट्रीय विधेयक के पहले चरण की प्राप्ति 10 दिसंबर, 1948 को हुई, जब संयुक्त राष्ट्र संघ की सामान्य सभा ने सर्वमत से मानव अधिकारों के विश्वव्यापी घोषणापत्र को स्वीकृत किया।

इस घोषणापत्र में वर्णित अधिकारों को हम मुख्यतः दो वर्गों में रख सकते हैं। पहले वर्ग में सिविल व राजनैतिक संबंधी अधिकार हैं, जिनमें जीवन, स्वतंत्रता, सुरक्षा का अधिकार, यातना व दासता से मुक्ति का अधिकार, विचार, अभिव्यक्ति तथा धर्म की स्वतंत्रता का अधिकार, विधि के समक्ष समानता का अधिकार, स्वतंत्र आवागमन, संघ निर्माण का अधिकार, विवाह करने तथा संपत्ति रखने का अधिकार तथा राज्य की राजनैतिक गतिविधियों में भागीदारी का अधिकार सम्मिलित है। दूसरे वर्ग के अधिकारों का संबंध व्यक्ति के आर्थिक, सामाजिक व सांस्कृतिक पहलुओं से है, जिसमें कार्य करने का अधिकार तथा सांस्कृतिक जीवन में भाग लेने का अधिकार शामिल हैं। इन सभी अधिकारों को आधार सिद्धांत यह है कि मानव की अंतर्निहित मर्यादा को बरकरार रखना है तथा मानव समाज के सभी सदस्यों को उनके असीमित अधिकार समान रूप से मुहैया कराना है।

अंतर्राष्ट्रीय विधेयक का पहला चरण था विश्वव्यापी घोषणापत्र का निर्माण। विधेयक के द्वितीय व तीसरे चरण की प्राप्ति में अनेक वर्ष व्यतीत हुए। इनकी प्राप्ति 16 दिसंबर, 1966 को हुई जब संयुक्त राष्ट्र संघ की महासभा ने दो प्रसंविदाओं को अपनाया। यह प्रसंविदायें थीं: आर्थिक सामाजिक व सांस्कृतिक अधिकारों की अंतर्राष्ट्रीय प्रसंविदा। इन प्रसंविदाओं में घोषणा पत्र के प्रावधानों को अधिक सूक्ष्म ढंग से परिभाषित किया गया और साथ ही प्रत्येक प्रावधान के क्रियान्वयन हेतु उपबंध भी प्रस्तुत किये गये। इन प्रसंविदाओं के अतिरिक्त अंतर्राष्ट्रीय विधेयक की अभिपूर्ति के लिये दो ऐच्छिक न्यायाचार भी अपनाये गये। पहला ऐच्छिक न्यायाचार का संबंध व्यक्तिगत शिकायत की प्रक्रिया के विषय में था तथा दूसरे का संबंध मृत्यु दंड के उन्मूलन से। प्रसंविदाओं का स्वरूप बाध्यकारी होता है। राज्य इन पर सहमति कर अपने अर्थात् एक विधिक प्रारूप में क्रियान्वित

हैं। सन् 1976 से, जब यह दोनों प्रसंविदाएं प्रभावी हुई, आज तक विश्व के करीब 130 राज्यों ने दोनों प्रसंविदाओं को अपनाया है। जहाँ तक न्यायाचार का प्रश्न है, पहला न्यायाचार 1976 में प्रभावी हुआ और अब तक करीब 10 राज्यों द्वारा अपनाया जा चुका है, वहीं दूसरा न्यायाचार सन् 1989 में प्रभावी हुआ और उसे अब तक करीब 30 राज्यों का ही समर्थन प्राप्त हुआ है।

विश्वव्यापी घोषणापत्र में जो सिविल व राजनैतिक अधिकार सम्मिलित हैं उनका विस्तारीकरण सिविल व राजनैतिक प्रसंविदा में किया गया है। प्रत्येक अधिकार की विस्तृत परिभाषा, किन अवस्थाओं में इन अधिकारों का विलोप किया जा सकता है तथा उनके उल्लंघन में प्रतिकार की क्रिया क्या हो, इसका उल्लेख संबंधित प्रसंविदा में है। अधिकारों के क्रियान्वयन के विषय में प्रसंविदा में प्रावधान किया गया है। सिविल व राजनैतिक प्रसंविदा के अनुच्छेद 28 में यह प्रावधान है कि एक मानव अधिकारों की समिति गठित होगी जो कि प्रसंविदाकारी राज्यों द्वारा प्रस्तुत उनकी रपट का अध्ययन कर अपने सुझावों को प्रस्तुत करेंगी। समिति के 18 सदस्य होंगे जिनका चयन प्रसंविदाकारी राज्यों द्वारा होगा। जब भी कोई राज्य इस प्रसंविदा का सदस्य बनता है तो सदस्य बनने के एक रपट इस समिति को प्रस्तुत करनी पड़ती है। समिति यदि उचित समझती है तो समय-समय पर राज्यों से उनकी रपट मंगवा भी सकती है, राज्य की रिपोर्ट के अतिरिक्त समिति किसी राज्य द्वारा अन्य राज्य की शिकायत भी स्वीकार करती है। किंतु यह तभी संभव है, जब दोनों ऐसे राज्यों ने ऐसी शिकायत प्रक्रिया द्वारा अपनी सहमति प्रदान की हो। आज तक इस प्रकार की कोई भी शिकायत समिति के समक्ष नहीं आई इसके अलावा समिति का यह भी कार्य है कि वह प्रसंविदा के विभिन्न उपबंधों के विशिष्ट अर्थ को तथा उनसे संबंधित व्याख्या भी प्रस्तुत करें, ताकि संबंधित राज्य इनके अनुपालन में सशक्त हो सकें। यह समिति अपने कार्यें को एक रपट वार्षिक तौर पर आर्थिक व सामाजिक परिषद को पेश करती हैं जो उसे संयुक्त राष्ट्र की महासभा में प्रस्तुत करती है।

मानव अधिकारों के संरक्षण का कार्य राष्ट्रीय स्तर के प्रयासों पर निर्भर है, अतः मानव अधिकार समिति की सिफारिशों की शक्ति सीमित करने से राज्यों पर एक अप्रत्यक्ष प्रभाव अवश्य पड़ता है क्योंकि कोई भी राज्य अपने आंतरिक मामलों की रपट पर बहस के दौरान आरोपित व कलंकित नहीं होना चाहता, जिस वजह से वह अपनी रपट साफ-सुथरी प्रस्तुत करने के लिये घरेलू स्तर पर मानव अधिकारों के क्रियान्वयन के प्रयास करता है।

प्रथम ऐच्छिक न्यायाचार के प्रावधानों के तहत समिति व्यक्तिगत शिकायतों को भी स्वीकार कर सकती है। किंतु यह तभी संभव है जब संबंधित व्यक्ति के राज्य द्वारा, न्यायाचार को अपनाया गया हो। पीड़ित किसी संबंधी या उसके द्वारा, लिखित रूप में समिति को शिकायत प्रस्तुत की जा सकती है। शिकायतों का संबंध मानव अधिकार के उल्लंघन से हाना अनिवार्य है। ऐसी व्यक्तिगत शिकायतों को समिति तभी स्वीकार करती हैं जब वह नामजद हों, वह किसी अन्य अंतर्राष्ट्रीय न्यायाधिकरण के तहत् विचाराधीन न हो तथा आवेदक ने उपलब्ध सभी घरेलू उपचारों का इस्तेमाल कर लिया हों तदुपरांत समिति व्यक्तिगत मामले पर अपनी राय व सिफारिशें संबंधित राज्य तथा व्यक्ति को प्रस्तुत करती है, इस आशा से कि राज्य उन सिफारिशों पर अमल करेगा। कई कारणों व बंधनों के चलते राज्य अक्सर ऐसी सिफारिशों को सम्मान करते हुए उन्हें क्रियान्वित करते हैं।

समिति की सिफारिशों पर अमल हो रहा है या नहीं इसे देखने के लिए समिति ने एक विशेष रिपोर्टियर की नियुक्ति की है जो समिति की सिफारिशों पर क्या कार्य हुआ है उन पर संबंधित राज्यों से लिखित सूचनाएँ प्राप्त करता है और अपनी राय से समिति को अवगत कराता है। आर्थिक-सामाजिक व सांस्कृतिक अधिकारों की प्रसंविदा के सफल क्रियान्वयन के लिए भी एक समिति का प्रावधान है। इसमें भी 18 सदस्य होते हैं जो कि सदस्य राज्यों द्वारा चयनित किए जाते हैं। समिति के यह सभी सदस्य अपनी व्यक्तिगत क्षमता में कार्य करते हैं, समिति में कार्य करते समय यह अपने राज्य का प्रतिनिधित्व नहीं करते। संबंधित राज्यों द्वारा रिर्पोट प्रस्तुत करना, समिति द्वारा रिर्पोट का निरीक्षण-परीक्षण और अंततः समिति के द्वारा सुझाव व सिफारिशें करना उपरोक्त सिविल व राजनैतिक अधिकारों की समिति के समकक्ष ही हैं। इस समिति में एक विशेष अंतर यह है कि

इससे संबंधित मामलों में इसे व्यक्तिगत शिकायतें और अंतर्राज्यीय शिकायतों को स्वीकार करने का अधिकार नहीं है।

अंतर्राष्ट्रीय विधेयक के अलावा संयुक्त राष्ट्र संघ की महासभा ने, तथा उसके संबंधित निकायों ने कई अन्य अभिसमयों, घोषणापत्रों व सुझावों को अपनाया है जिनका सम्बन्ध विश्वव्यापी घोषण पत्र में वर्णित अधिकारों के विस्तारीकरण से है। कई ऐसे भी उपकरण अपनाए गए हैं जिनका उल्लेख विधेयक में नहीं है किंतु वह प्रासंगिक हैं।

हर संभव प्रयास किया जाता है कि राज्य अंतर्राष्ट्रीय मानकों को प्रोत्साहित करें तथा वह मानव अधिकारों की संधियों को अपनाएँ और साथ ही अपने राष्ट्रीय विधान में उनका समायोजन करें। अंतर्राष्ट्रीय विधेयक के अतिरिक्त जो उपकरण अपनाये गये हैं उनका प्रमुख रूप से संबंध निम्नलिखित विषयों से है – जीवन का अधिकार, विभेद की रोकथाम, अल्पसंख्यकों के अधिकार, युद्ध से पीड़ित व्यक्तियों के अधिकार, शरणार्थियों के अधिकार तथा महिलाओं की प्रस्थिति से संबंधित कन्वेंशन।

बाल अधिकारों पर अभिसमय

इस क्रम में एक महत्वपूर्ण विकास सन् 1990 में हुआ। जब बालक के अधिकारों पर अभिसमय प्रभावी होकर सामने आया। इस अभिसमय को अब तक लगभग 180 राज्यों ने मान्यता प्रदान करते हुए अपना लिया है। ऐसा करने पर राज्यों ने यह वचन दिया है कि वह बालक के अधिकारों को सुनिश्चित करने के लिये सभी संभव प्रयास करेंगे तथा बालक के अधिकतम हितों को सुरक्षित करेंगे। इस अभिसमय के प्रवर्तन में यूनीसेफ एक अहम भूमिका अदा कर रहा है। आज के समय में चिंता का प्रमुख विषय है बालकों के व्यापार, उनकी वेश्यावृत्ति तथा उनके अश्लील साहित्य पर रोकथाम करने की, क्योंकि वह प्रथाएं आज तेजी से विश्व स्तर पर प्रचलित हो रही हैं।

जून, 1993 को वियना में संपन्न हुए मानव अधिकारों को विश्व सम्मेलन में इस विषय को एक नया आयाम प्रदान किया गया। सम्मेलन में यह स्वीकार किया गया कि मानव अधिकार, लोकतंत्र व राष्ट्रीय विकास अन्योन्याश्रित हैं तथा यह तीनों परस्पर रूप से एक-दूसरे को सुदृढ़ व प्रबल बनाते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि अंतर्राष्ट्रीय समुदाय इस बात पर सहमत हुआ कि मानव अधिकारों का अधिकतम संरक्षण एक लोकतांत्रिक समाज में ही संभव है। यह भी स्वीकार किया गया हैं कि लोकतंत्र के उचित क्रियान्वयन के लिए मानव अधिकारों व स्वतंत्रताओं का होना आवश्यक है। शीत युद्ध के उपरांत अंतर्राष्ट्रीय संबंधों के विकास में यह एक महत्वपूर्ण कदम है। इसके साथ ही विकासशील राज्यों द्वारा यह भी स्वीकार किया गया है कि उनके विकास के अधिकारों की प्राप्ति के लिए मानव अधिकारों व लोकतांत्रिक सरकार का होना अत्यंत ही आवश्यक है। आज लोकतंत्र के लिए चार प्रमुख आधार बताए जाते हैं: स्वतंत्र व निष्पक्ष चुनाव, पारदर्शी व उत्तरदायी सरकार, सिविल व राजनैतिक अधिकार, तथा एक सिविल या लोकतंत्र समाज। लोकतंत्र के कार्य करने के लिए यह चारों घटक समान रूप से आवश्यक हैं।

सदर्भ ग्रंथ

1. Richard wassersfrom, Rights Human Rights and Racial Discriminations, *The Journal of Philosophy,* Vol.61,Oct 1964, PP. 628-36.
2. Harlan Cleveland, The Chain Reacation of Human Rights, in Alice H. Henken (ed), Human Dignigy, *The Internationalization of Human Rights,* New York, Aspen Insitute for Humanistic Studes, Oceana Publecaions, 1979, P.IX.
3. Maurice Cranston, What ae Human Rights, Delhi, National Academy, 1974, p.1
4. Jan Martenson,k *40th Anniverasry of The Universal Declaration of Human* Rights, New York; UNPublications,1998.
5. Forward by Chief Justice R.S. Pasthak, in E.S. Venkataramiah, (ed), Human Rights in Changing World, New Delhi; International Law Association, 1988, p. Xiii.
6. V.R. Krishna Lyer, What are Human Rights? Human Rights and the Law, Indorre, Ved Pal Law House, 1985, p.4.
7. Engene Kamenka, Idea and Ideologies – Human Rights, London, Edward Arnold, 1978, p. vii.
8. P.N.Dua, Dream on Stilts-Sidelights on the Problem of Sanction for Enforcement of Human Rights, in E.S. Venkataramiah (ed), op. cit, p.62.
9. L.M. Singhvi, The UN and Human Rights : A Pioneering Role in U.S. Bajpai (ed.), *Forty Years of the United Nations*, New Delhi, Lsncer International, 1987, p. 159.
10. Morteza Ravandi, Tarikhe-e-Iron (The Social Histoy of Iran), Tehran, Amir Kabir Publication, 1978, p. 176.
11. Shaper, H, Manjra (Dastoor), Cyrus the Great and His Times: The Conquest of babylon, Bombay, R.M.D. Chamarbaugvala, 1971, p.x.v.
12. Elaine Pagle, The Roots and Origins of Human Rights, in Alice H. Henkin (ed.), *Human Dignity: The Internationalization of Human Rights,* New York, Oceana Publications, 1979, p. 2.
13. W.H.C. Frend, Martyrdom and Presecution in the Church, in, *judiasm: A Quarterly Journal of Jewish Life and Thought:* Vol. XXV, No. 4, 1976, p. 5.
14. Abdul Aziz Said, Pecept and Practice of Human Rights in Islam, in *Universal Human Rights*, Vol. 1 No. 1, 1979, p. 63.
15. Cicero, *De Republica* (Trans.) Clinton Walker Keyes, Cambridge University and London; Harvard University Press, 1928, Book III, p. 211.
16. Eugene Kamenka, op.cit., pp. 5-6.
17. Herrsh Lauterrpacht, International Law and Human Rights, London, Stevents and Sons, 1950, p. 74.
18. Tom Paine, The Rights of Man, London, Everymans Library, 1954, p. 44.
19. Peter Lastett, Introduction to John Locke–Two Treaties of Government: A Critacal Ediction, Cambridge, London, 1960, p. 145.
20. John Macquarrie, Three Issues in Ethies, Quoted in Sir Frances Vallate, *An Introduction to the Study of Human Rights*, London, Europe Publications, 1970, p.6.
21. John Macquarrie, Ibid., pp. 6-7.
22. Hewoduts, History (Cary's translation) Book III, 1982, p. 80, in Ernest Barket (ed.) *Grate Political Theory, Plato and His Predecessors*, London, University Paperback Press.
23. Plato's Justice, in Edith Hamilton and Huntingtori Cairns (ed.). *The Collected Dialogues of Plato.* Bullingin Foundation, 1961, pp. xxi-xxiii.
24. Morteza Ravndi, op. cit, p. 367.
25. J.J. Roussaue, *Emile*, Book Livre, V. vol II, 1896, p. 453.
26. St. Thomas, Acquin, vilely, Lagense, D. Composta, p. 103.
27. Ibid. p.5.
28. W.A. Dunning, A History of Modern Political, Theoies' from Luthes to Montesquen, 1966, p. 123.
29. John Locke, Two Treaties of Government, Second Trtaty, Section 94, p. 142-58.
30. Thomas Paine, The Rights of Man, Dolphan Edition, New York, 1961, Part II, p. 410.
31. Edmund Burke, Reflections onn the Revolution in France, Works, II, pp. 331-32.
32. Guido do Ruggiero, The Histoy of European Liberalism, London, 1927, p. 101.
33. J.S. Mill, On Liberty, Peoples Edition, 1880, p. 6.
34. W.A. Dunning, A History of Political Theories from Luther to Montesque, 1966, p. 123.
35. Charles E. Wyzanski, Jr:, The Philosophical Background of the Doctrine of Human Right, in Alice H. Henkin (ed.), *op.cit.* p.9.
36. Karl Marx. On the Jewish Question, T.B. Bottomore, (ed.), 1964, pp. 23-31.

◆

13

विकास की भ्रामकता और परमाणुविक शक्तिकरण की व्यग्रता: दक्षिण एशिया का एक संदर्श

—प्रो. प्रेमानारायण पांडेय*

दक्षिण एशियाई भूमंडल (Lithosphere) का पारिस्थिकीय, सामाजिक, सांस्कृतिक और ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य शेष विश्व से भिन्न है। एक तरफ यह क्षेत्र अपने अंतः जन्य सामाजिक-सांस्कृतिक विविधताओं, विजातीयताओं और विशिष्टताओं से ओत-प्रोत है, तो दूसरी तरफ दक्षिण एशिया के इस क्षेत्र में पाश्चात्य समाजों के विकास प्रारुपों के आधार पर पश्चिमी विकास की मुख्यधारा से जुड़ने की लिप्सा है। विगत लगभग पांच दशकों के अंतर्गत सामाजिक-आर्थिक विकास के बहुतेरे कार्यक्रम, परियोजनाए एवं वियोजन इन देशों मे संचालित हुई है। वहीं पर यह काफी हास्यास्पद लगता है, कि दक्षिण एशिया के ये देश अनभिज्ञता, निर्धनता, निरक्षरता, बेरोजगारी, अभावबोध, कुपोषण जैसी समस्याओं से लेकर सांप्रदायिकता, धार्मिक उन्माद, सजातीय संघर्ष, भाषाई क्षेत्रवाद, पृथक स्वायत्तशासी राज्यों की माँग से लेकर एड्स, तपेदिक, कुष्ठ, महामारी आदि प्रभृत रोगों की वृद्धि इस क्षेत्र के समग्र मानवता को निगल जाने के लिए लंबी दौर तक चलने वाली समस्याएं प्रतीत हो रही हैं। दक्षिण एशिया के इस क्षेत्र में अर्थव्यवस्था, राजनीति समाज संरचना में हो रहे विसंगतिपूर्ण और असंवहनीय (Unsustainable) विकास ने वास्तव में अभूतपूर्व भ्रामकता (Elusivensess) और दविधाएं आदि दुविधाओं/मूर्त किया है।

विश्व के बहुसंख्यक देशों के संरचनात्मक रूपांतरण की नीतियों एवं कार्यक्रमों के विकास की धारणा ने विगत पांच से अधिक दशकों से प्रभावित किया है। एक प्रमुख सामयिक वैचारिकी के रूप में विकास प्रक्रिया ने सार्वजनिक एवं वैयक्तिक प्रतिष्ठानों एवं संगठनों के उद्देश्यों एवं प्रयासों की निरूपित किया है। (सुत्तान 1989 :137)। कुछ विद्वानों ने तो विकास की मुक्ति के निरपेक्ष सिद्धांत (Seculor theroy of Salvation) के रूप में देखना शुरू कर दिया (नंदी 1987, 1981), कुछ ने उसे आधुनिकीकरण के मिथक (डवकमतदप्रपदह डलजी) के रूप में व्यक्त किया (उल्फ : 1981)

विकास की अवधारणा की उद्भव 19वीं सदी की प्रगति के विचार से वस्तुतः प्रस्फुटित होती है और प्रगति की धारणा स्वयंमेव 18वीं सदी दार्शनिक विचारधारा की देन है। सघन जांच से परिलक्षित होता है। कि विकास की अवधारणा वस्तुतः समता के दर्शन एवं समानता मूलक वैचारिकी पर आधारित है, अर्थात् धनी और निर्धन, विकसित और अर्ध-विकसित के बीच दूरी समाप्त या न्यून की जा सकी है (सैश,1990)। किंतु संपूर्ण तृतीय विश्व के देशों एवं भारत विशेषकर विकास की दौड़ में गंभीर भ्रामकता एवं दुविधाओं का सामना कर रहे हैं। इन भ्रामकताओं और दुविधाओं को निम्नलिखित संरचनात्मक रूपांतरणों एवं परिवर्तनों के संदर्भ में रेखांकित किया जा सकता है:

1. **विकास बनाम सामाजिक समता:** विकास के विश्व स्तरीय अनुभव यह इंगित करते हैं कि विभिन्न राष्ट्रों के बीच तथा विभिन्न राष्ट्रों के भीतर धनी एवं गरीब, शक्तिशाली एवं अशक्त के संदर्भ में सामाजिक दूरी उत्तरोत्तर बढ़ी है (बेतेई : 1983,1993)।
2. **विकास बनाम सांस्कृतिक विविधता :** विभिन्न समाजों में भूमंडलीकरण एवं विकास की होड़ में कई सर्वाधिक ज्वलंत समस्या आज सांस्कृतिक वैविध्य, विजातीयता एवं विभिन्नता के अस्तित्व एवं नैरंतर्य को अपनी पहचान एवं अस्मिता प्रदर्श के लिए बनाये रखने की है, अन्यथा वैश्विक या भूमंडलीय विकास की दौड़ में ये लुप्त हो जाएगी। तृतीय विश्व देशों के सामने यह प्रश्न बेचैनी पैदा कर रहा है। भारत में ही क्षेत्रीय एवं सजातीय (Ethnic) स्तर पर उभर रही चुनौतियाँ आग्रह करने वाली सूचक है; चाहे वह मेघा पाटकर दवारा संचालित सरदार सरोवर परियोजना से जुड़ा आंदोलन हो, या पर्यावरण अनुरक्षण मूलक सुंदर लाल बहुगुणा का टिहरी बांध परियोजना से जुड़ा या ऐसे ही अन्य संरचनात्मक भावनाओं से जुड़े आंदोलन जैसे असम में बोड़ो एवं उल्फा आंदोलन, बिहार का झारखंड आंदोलन, दार्जिलिंग का गोरखा मोर्चा, मणिपर, नागालैंड, त्रिपुरा और मिजोरम के जनजातीय लोगों के आंदोलन या उत्तर प्रदेश का उत्तराखंड मूलक आंदोलन। ऐसी स्थिति में अस्मिता के पराभव की कीमत पर विकास स्वीकार्य नहीं हैं। राष्ट्र की मानसिकता ऐसे विकास को अर्जित करने की प्रतिकूल है। ऐसे ही लक्षण अन्य तृतीय विश्व देशों, जैसे लातीनी अमेरिका के चिली, इक्वेडर, वेनेजुएला, मेक्सिको, ब्राजील, अफ्रीका के यूगांडा, तंजानिया, नाइजीरिया, कांगो, दक्षिण अफ्रीका और दक्षिण तथा दक्षिण-पूर्व एशियाई देश, जैसे मलेशिया, इंडोनेशिया, थाईलैंड, म्यांमार में दृष्टिगत हैं।
3. **विकास बनाम पारिस्थितिकी एवं पर्यावरण:** विकास की दौड़ में परिस्थितिकीय असंतुलन एवं पर्यावरण प्रदूषण एवं दोहन का उभरता भय विकास को दुविधा की स्थिति में खड़ा कर दिया है और यह स्थिति विश्व स्तर पर उभरी है, केवल भारत के ही सामने नहीं। एक तरफ विकास के तरफ बढ़ने की लिप्साएं हैं, तो दूसरी तरफ आक्रांत एवं भयभीत कराने वाली चुनैतियों से भरे हुए विध्वंसक परिणामों की भावी संभवना का भयावह कल्पचित्र वैज्ञानिकों, परिस्थितिक वैज्ञानिकों, पर्यावरणविदों, समाजशास्त्रियों और अर्थशास्त्रियों का ध्यानाकर्षण बड़ी परियोजनाओं की स्थापना एंव अनुभव की तरफ किया है। बड़ी परियोजनाएँ, भारी उद्योग जिनके फलस्वरूप जंगलों का विनाश, कटाव, पारिस्थितिक असंतुलन भूमि उर्वरता का ह्रास, मरूभूमि का विस्तारण और पर्वतीय क्षेत्रों का विध्वंस तथा साथ ही औद्योगिक विसर्जन और कूड़े-कचरे के बढ़ते स्वरूप के फलस्वरूप जल, वायु, ध्वनि प्रदूषण, वन्य पशुओं और पौधों (Flora and Fauna) का ह्रास आदि ने संपूर्ण पारिस्थितिकीय व्यवस्था में विसंगति और असंतुलन को बढ़ावा दिया है। (रेड्डी 1986, गुहा 1988)। उक्त परिदृश्य के साथ ही जनजातिय जनसंख्या का पलायन, विलोप आदि ने जनजातीय अस्मिता एवं उसकी सांस्कृतिक विविधता के अस्तित्व पर पराभव का सवाल खड़ा कर दिया है। विकास के ऐसे परिणाम निस्संदेह एक अराजक, संरचनात्मक और पारिस्थितिकीय तनाव की स्थिति की तरफ ले जा रहे हैं (सी.एस.ई.1982,1985)।

विकास की विसंगतियों के अनुभव के आधार पर स्थायी एवं संवहनीय विकास (Sustainable development) से संबंधित वैचारिकी एवं परियोजनाओं के विषय में बहुतेरे अध्ययन एवं सर्वेक्षण क्रियान्वित हुए है। (ब्रंटलैंड 1987, 1989; पियर्स, 1989, हेनउरसन 1990)।

विकासशील समाज संरचनाएं

निम्नांकित कुछ विशेषताएँ विकासशील समाजों से जुड़ी हैं-

1. पश्चिमी समाजों में पृथक विकासशील समाजों में अंतरनिहित संरचनात्मक विशिष्टताएं हैं। अतः पश्चिमी विकास के पैराडाइम और प्रारूप इन समाजों के संरचनात्मक संरूपण के साथ मेल नहीं खाते।
2. विकास स्वयं में ही सांस्कृतिक वृद्धि और निरंतरता की ऊपज है और सांस्कृतिक भिन्नताएं किसी विकास प्रारूप की सार्वभौमिकता को वर्जित करती हैं। अतः किसी और सामाजिक संरचना के उद्धृत प्रारूप और प्रतिमान दूसरी संरचना पर सटीक नहीं बैठते।
3. संरचनात्मक रूपांतरण और परिवर्तन की प्रक्रिया में विकास के प्रारूप और प्रतिमान समाज विशेष के भीतर से आविर्भूत होने चाहिए जो उस समाज के सामाजिक, सांस्कृतिक अस्मिता के अनुरूप हो।
4. विकासशील समाजों में प्रभृति प्रकार की विविधताएं, विषमताएं और अंतःजन्य विरोधाभास निहित है। ऐसी

*समाजशास्त्र विभाग, काशी हिंदु विश्वविद्यालय, वाराणसी -221005

स्थिति में अंतःजन्य प्रारूप जो आधुनिक प्रविधि के तर्कसंगत समावेश से संयुक्त होंगे, वे ही संवहनीय एवं स्थायित्वमूलक होंगे।

5. भारत और अन्य एशियाई समाजों के सामाजिक संरचनात्मक परिवर्तन के संदर्भ में क्षेत्रीय, पारिस्थितिक, उपसांस्कृतिक और सजातीय विचारों और मुद्दों का चुनाव विकास कार्यक्रम को लागू करने के पहले प्राथमिकता के आधार पर होने चाहिए ताकि समकालीन विकास प्रक्रियाओं के साथ निरंतरता का प्रवाह कायम रहे। इसके विपरीत पश्चिमी समाजों के केवल कार्बन-कापी पर आधारित विकास भ्रामकता, असंतोष, अराजकता के साथ अग्रसर होंगे और राष्ट्र की समग्र अस्मिता की बुनियाद को ध्वस्त करेंगे। ऐसे विकास जैसे टेक्नेट्रोनिक एप्रोच (Technetronic Approach) मानवीय कारकों और विशिष्ट अस्मिता बोध से शून्य होंगे। निस्संदेह आज विश्व विज्ञान और प्रौद्योगिकी की वृद्धि के साथ 'एक विश्व व्यवस्था' भूमंडलीकरण और सार्वभौमिकीकरण की तरफ अग्रसर हुआ है तो उसी समय में विशिष्टता और विविधत आधुनिकता की चाह बन चुके हैं। इसके ज्वलंत उदाहरण जापान और दक्षिण कोरिया में दृष्टव्य हैं।
6. विकास की प्रक्रिया के माध्यम से मानव का सांस्कृतिक गंतव्य क्या है ? आज के समाज के वैज्ञानिकों के समाने यह एक अनुत्तरित प्रश्न है। ऐसे प्रश्न का उत्तर विकास के पश्चिमी प्रतिमानों के संप्रेषण और क्रियान्वयन से पूर्व देना होगा। पूर्व पृष्ठों में व्यक्त विकास की भ्रामकता एवं दुविधाओं के प्रकाश में भारत और अन्य विकासशील समाजों के संरचनात्मक परिवर्तन में विकास की प्रक्रिया का समालोचनात्मक मूल्यांकन करने का प्रयास किया गया है।

विकास की कार्यपद्धति का छद्म स्वरूप विकासशील समाजों में सामान्य रूप से और भारत में विशेष रूप से दृष्टव्य है। विकास की वैचारिकी अस्पष्ट रूप से परिभाषित रही हैं। विकास के सूचक अर्थात वृद्धि दर समग्र राष्ट्रीय उत्पाद और प्रतिव्यक्ति आय पूर्णतः आर्थिक मापदंड है। संरचनात्मक परिवर्तन और सांस्कृतिक विकास के सूचकों की व्याख्या यथेष्ट रूप से की ही नहीं गई है। पुनः आर्थिक विकास की योजनाएं, परियोजनाएं और कार्यक्रम, विशेषकर भारत में, सुपरिभाषित सांस्कृतिक लक्ष्यों के प्रति तर्कसंगत लगाव में नहीं हैं भारतीय अनुभवों से यह संकेत मिलता है कि पश्चिम के सर्वाधिक शक्तिशाली ऋणदाता देशों ने ऋणग्रहीता देशों पर राजनीतिक दबाव डालने में कोई भी हिचक नहीं रखी है। ताकि ऋणग्रहीता देश उन उन शक्तिशाली देशों की नीतियों, अभिरूचियों और हितों की प्रसंशा किया करें। यह है कि तृतीय विश्व के देश सतत् रूप से मानसिक आभार से दबे हुए हैं। आंतरिक रूप से पश्चिमी देशों ने ऐसे प्रभावों और दबावों का प्रयोग किया है, जिसका आशय यह है कि उनकी नीतियों और अभिरूचियों की अवहेलना करने पर विकासशील देशों की स्वतंत्रता और संप्रभुता द्वितीयक स्तर या गौण स्तर की समझी जाएगी। (देखिए, सी.टी.बी.टी. और एन.पी.टी. पर मीडिया रिपोर्ट)। पुनः, विकसित शक्तिशाली देशों में छिपे या खुले तौर पर ऋण ग्रहण करने वाले विकासशील देशों को ऋण देने पर पर ही निषेध लगाने के भय से भी प्रताड़ित करने की प्रवृत्ति हैं ताकि ये देश ऋणदाता देशों की स्तुति का गान करते रहें (दुबे, 1988,1990)।

भारत और अन्य विकासशील देश यह अनुभव कर रहे हैं कि वर्तमान विश्व की आर्थिक और सामाजिक व्यवस्था में अंतर्निहित रूप से अन्याय और असमानता छिपी हुई है। इसे पुनर्संरचित करना होगा, ताकि विकासशील देश अपने संसाधनों के उपयोग और उत्पादन की प्रक्रियाओं में उचित हिस्सा का उपभोग अर्थपूर्ण ढ़ंग से कर सकें।

उपर्युक्त के अलावा बहुत से अंतःजन्य कारकों, जैसे क्षेत्रीय निष्ठाएं सजातीय, भाषायी, धार्मिक, सांप्रदायिक और स्थानीय लगाव तथा निष्ठाएं जो विकासशील समाजों में उत्तरोत्तर कायम हैं, व बहुत हद तक अप्रत्याशित दिशा में परिवर्तन की प्रक्रिया को प्रेषित किया है और राष्ट्रीय स्तर पर सामाजिक सुदृढ़ता की शक्ति का क्षय किया है। इन्हें 'निर्धनता की संस्कृति' और अभावबोध की राजनीति' के रूप में समझना होगा। प्रशासनिक स्तर पर भ्रष्ट नौकरशाही व्यवस्था के कारण इन देशों में विधायिका, न्यायपालिका और कार्यपालिका के कार्यक्षेत्रों में सीमा उल्लंघन हो गया है। भ्रष्ट नेतृत्व तथा विधायकों एवं सांसदों और राज्यों के स्वार्थलोलुप नेताओं ने विकासशील देशों को स्वच्छ एवं साफ नागरिक प्रशासन प्रदान करने में काफी पीछे छोड़ दिया है (हडसन 1971; बावेर, 1971; हेटर, 1972 एवं मेंडे, 1973)।

उपर्युक्त प्रतिकूल परिस्थितियों के अलावा जनसंख्या की उत्तरोत्तर विस्फोटक वृद्धि, निर्धनता, अशिक्षा, बेरोजगारी और ग्रामीणऋणग्रस्तता, गाँव के नगरों की तरफ निर्बाध पलायन, त्रुटिपूर्ण भूमि विकास कार्यक्रम आदि कुछ प्रमुख कारण हैं जो इन समाजों को विकास पथ पर आगे बढ़ने में अवरोध पैदा करते हैं। विकास की दशा और दिशा की सही तस्वीर स्पष्ट न होकर भ्रामक बन जाती है। ऐसी स्थिति में विकासशील देशों की अर्थव्यवस्था, राजनीति और समाज संरचना विकास की दौड़ में विद्रूपित हुई है।

पुनः विभिन्न राज्यों के शासनाध्यक्षों में आत्मविश्वास की कमी तथा राजनैतिक उथल-पुथल एवं अस्थिरता दक्षिण एशिया के देशों के राजनीतिक नेताओं, राष्ट्राध्यक्षों और शासनाध्यक्षों को इस भाँति उद्विग्न किया है कि इन देशों के राष्ट्रीय कोष को इन लोगों ने बड़े ही निर्दयता से आयुध-संसाधनों और ध्वंसक हथियारों, कच्चे पदार्थों तथा तद्जनित प्राविधिक जानकारियों को हासिल कर रासायनिक, जैविकीय और व्यापक विध्वंसकारी हथियारों के क्रय एवं उत्पादन में खर्च कर रहे हैं। (हडसन, 1971; हेटर, 1971; बावेर, 1971; मेंडे, 1973; नंदी, 1987-89; सुंत्तन, 1989; बेत्तेई, 1990 एवं पांडेय, 1998)।

भारत और पाकिस्तान दक्षिण एशिया के दो प्रमुख घटक देश हैं। अन्य देशों में बांग्लादेश, श्रीलंका, नेपाल और भूटान आते हैं। इन देशों की यद्यपि अपनी राजनीतिक संप्रभुता तो है, किंतु दक्षिण एशिया में इनकी भू-राजनीतिक स्थानीय स्थिति नहीं है (मेंडे, 1971 एवं नंदी, 1989)। इस प्रकार दक्षिण एशिया में दो राष्ट्र – भारत और पाकिस्तान के बीच इनके उद्भव के काल से लेकर अब तक विकास की कोई पारस्परिक समामेलित ध्वनि नहीं है, बल्कि वैमनस्य, विद्वेष, पारस्परिक अविश्वास, उत्तरोत्तर बढ़ते हुए आतंकवाद, हिंसा, रक्तपात और अप्राधिकृत तरीके से सीमा क्षेत्रों पर भू-अधिग्रहण की घटनाओं से ओत-प्रोत है। ऐसी स्थिति में सामाजिक-आर्थिक शांति और कुशलता के पुनर्स्थापन से जुड़ा हुआ भविष्य के स्वप्नचिंतन का स्वरूप का दूरगामी प्रश्न प्रतीत होता है। इस्लामी कट्टरवाद और हिंदुत्ववादी भारतीय हिंदू समाज के निरपेक्षवाद जो निकट अतीत में इन दोनों देशों में विकसित हुए हैं, वे वस्तुतः परमाणुविकरण के मानक और आधारों से मेल नहीं खाते, क्योंकि परमाणुवीकरण आधुनिक, सामयिक, वैज्ञानिक और प्राविधिक विश्व दृष्टि, अर्थात् तार्किकता, वैषयिकता और वैज्ञानिक यथार्थता पर आधारित है। धार्मिक उन्माद, परमाणुविक सशक्तिकरण के लिए तार्किक आधार नहीं प्रस्तुत कर सकता है। यह सर्वदा भारतीय उपमहाद्वीप में विप्लव, विध्वंस, परमाणुविक दुरुपयोगों को ही आविर्भूत करेगा। दक्षिण एशियाई उपमहाद्वीप में अशांति के नैरंतर्य का मनोवैज्ञानिक भय सतत् व्याप्त है (मीडिया रिपोर्ट, 18 अप्रैल 1999)। ऐसी अशांति का गंभीर एवं दुष्कर प्रभाव यहाँ की अर्थव्यवस्था, राजनीतिक व समाज व्यवस्था पर परिलक्षित हो रहा है। इस क्षेत्र की अर्थव्यवस्था हतोत्साही व विद्रूपित होकर दोनों देशों की करोड़ों की जनसंख्या को उपमानवीय जीवन स्थिति में रहने को बाध्य किया है और जीवन-निर्वाह के मौलिक संसाधनों से अभावग्रस्त किया है (मीडिया रिपोर्ट, अप्रैल 18,1999)। चारों तरफ इस क्षेत्र में बढ़ती निर्धनता, भूखमरी और करोड़ों की जनसंख्या का सामाजिक-आर्थिक अभावबोध के साथ-साथ चलती हुई निरक्षरता और जनसंख्या विस्फोट की समस्या ने सामाजिक-आर्थिक विकास की वैचारिकी को चुनौती दे रखा है (मीडिया रिपोर्ट, 11 मई 1999), जबकि हड़बड़ी और बेचैनी ने प्राविधिक सशक्तिकरण की लिप्सा इन देशों के राष्ट्राध्यक्षों को परमाणुविक प्रयोग, तैयारी और परीक्षण हेतु इस आशय से संतत्त किया है कि ये अतिशीघ्र पश्चिमी विकसित देशों के 'रैंक' और 'ऑर्डर' पर परमाणुविक शक्तिसंपन्नता की आत्मछवि कायम कर सकें। पुनः ऐसे परमाणुविक प्रयोगों व प्रयासों के विरुद्ध अमेरिका व यूरोपीय राष्ट्रों द्वारा आरोपित प्रतिबंध एक दूसरी पीड़ा हैं, जिनका वहन दक्षिण एशिया के दो राष्ट्र – भारत और पाकिस्तान कर रहे हैं। यद्पपि सैद्धांतिक स्तर पर इन दोनों ही राष्ट्रों द्वारा प्रस्तुत किए गए दावे और आश्वासन वैध प्रतीत होते है, संयुक्त राष्ट्र संघ व अंतर्राष्ट्रीय कानून में कोई ऐसा प्रावधान नहीं है, जो शांतिपूर्ण उद्देश्यों व भौतिक-समृद्धि के वृद्धि के आशय से किए जाने वाले प्राविधिक क्षमताओं के वृद्धि और परमाणुविक सशक्तिकरण के तैयारी के अभ्यास को निषिद्ध या वंचित कर सके।

भारत का परमाणुविक परीक्षण

18 मई, 1974 में भारत ने पोखरण क्षेत्र, जनपद

जैसलमेर, राजस्थान में अपना प्रथम परमाणुविक परीक्षण क्रियान्वित किया और पुनः 24 वर्षों के अंतराल के बाद पाँच परमाणुविक परीक्षण किए गए, जिन्हें 11 और 13 मई को किया गया। तीन परीक्षण 11 मई, 1998 को संचालित हुए जिसमें प्रथम जो था, वह विखंडन विधि से संबंधित था, दूसरा तापनाभिकीय संगलन विधि से संबंधित था और तीसरा 'लघु उत्पादकता' विधि से संबंधित रहा। इस प्रकार, प्रथम परीक्षण नाभिकीय बम बनाने से संबंधित एक सामान्य परीक्षण रहा। दूसरा परीक्षण लघु क्षमता के बम-निर्माण से संबंधित रहा और तीसरा व्यापक-क्षमता के हाइड्रोजन बम के निर्माण से संबंधित रहा है। 11 मई, 1998 को संयुक्त राज्य अमेरिका ने खुली घोषणा के द्वारा भारत पर आर्थिक प्रतिबंध प्रक्षेपित किया। यदपति इस दिशा में विश्व के बहुत से देशों ने भारत के इस प्रयास की सराहना की, तो कुछ ने प्रतिक्रियाएं व निंदा व्यक्त की। पुनः दो परीक्षण जो 13 मई, 1998 को घटित हुए, उनका संबंध सूक्ष्म एवं लघु एटम-बम के निर्माण से रहा। पाकिस्तान ने भी इसी काम में अपने ही परीक्षण मई, 1998 में भारत की प्रतिद्वंद्विता में प्रस्तुत किए हैं।

भारत की परमाणुविक नीतिः ऐतिहासिकता एवं आधार

परमाणुविक क्षमता के उपलब्धि के भारतीय प्रयास की ऐतिहासिकता यह व्यक्त करती है कि स्वतंत्रता से पूर्व भारत के प्रमुख वैज्ञानिक होमी जहाँगीर भाभा ने पंडित जवाहर लाल नेहरू को परमाणुविक क्षमता के विकास के संबंध में पत्र लिखा था। उस समय भारत ब्रिटिश शासन के अधीन था और प्रयोग के लिए परिस्थितियाँ श्रेयस्कर नहीं थी। भारत में इस दिशा में व्यवस्थित विकास 1945 ई. में टाटा इंस्टीट्यूट ऑफ फंडामेंटल रिसर्च की स्थापना के साथ प्रारंभ हुआ, जिसकी आर्थिक आधारशिला स्वयं टाटा ने तैयार किया। इस प्रकार तीन केंद्रीय व्यक्तित्व – नेहरू, टाटा और भाभा सामने आते हैं जिनका संयुक्त प्रयास टाटा इंस्टीट्यूट के माध्यम से शांतिपूर्ण, सृजनात्मक और कल्याणकारी उद्देश्यों की पूर्ति हेतु परमाणुविक ऊर्जा का विकास करना रहा अर्थात् परमाणु ऊर्जा का उपयोग विद्युत उत्पादन की वृद्धि, उत्पादकता की क्षमता में वृद्धि, कृषि स्वास्थ्य व चिकित्सा सुविधाओं में वृद्धि के आशय से हुई।

इस प्रकार, भारत की परमाणुविक नीति पर द्वितीय विश्वयुद्ध के उपरांत की परिस्थितियों पर प्रभाव दृष्टिगत है। 1945 में जापान के हिरोशिमा और नागासाकी पर दो परमाणु बमों के प्रहार ने द्वितीय विश्वयुद्ध की संध्या पर संपूर्ण विश्व मानवता के विह्वल कर दिया था। संयुक्त राज्य अमेरिका, फ्रांस तत्कालीन सोवियत संघ व ब्रिटेन परमाणु शक्ति संपन्न राष्ट्र थे। पुनः 1964 में परमाणुविक परीक्षण कर चीन भी इसमें सम्मिलित हो गया। दक्षिण एशिया में परमाणुविक क्षमताओं द्वारा आयुध, उपकरणों व बमों के निर्माण की भारत की कोई योजना नहीं रही, किंतु यह अपरिहार्य आवश्यकता भारत के अस्तित्व रक्षा हेतु तब हुई, जब पड़ोस में चीन परमाणु शक्ति संपन्न राष्ट्र के रूप में उभरा तथा साथ ही विद्वेष एवं विद्रोह की मुद्रा में निकटस्थ पड़ोसी पाकिस्तान के बहुतेरे प्रयास तथा किराये के आतंकवादियों, घुसपैठियों और विशेषकर इस प्रकार के विध्वंसक गतिविधियों को प्रोत्साहन देने वाले 14 देशों के आतंकवादी और उग्रवादी लोगों की सहायता से बहुतेरे घातक प्रयास किया है। (मीडिया रिपोर्ट मई 20,1999, अगस्त 1999) यह स्पष्ट परिलक्षित तथ्य है कि अंतर्राष्ट्रीय समुदाय के विभिन्न देशों ने अतीत से आज तक भारत को शांति व अहिंसा के देश के रूप में देखा है। सत्य व अहिंसा की उच्च और उदार भावनाएं तथा छठी सदी ईसी पूर्व से उद्घोषित बुद्ध और महावीर के निर्देशक तत्व, जैसे, सत्य, अहिंसा, करुणा, दया और शांति जिनकी नवेषणा व अनुशंसा अनेक समाजवैज्ञानिक, इतिहासकारों, अर्थशास्त्रियों, राजशास्त्रियों व मानवशास्त्रियों ने की है, वह आज भी दक्षिण एशिया व दक्षिण-पूर्व एशिया में शाश्वत संदेश के रूप में विद्यमान है। यह भी एक स्पष्ट तथ्य है कि बहुतेरे लोग यूरोप तथा अमेरिका से दक्षिण एशिया आए और इन्होंने शांति व नैसर्गिकता का आभास व अनुभव यही किया।

प्रधानमंत्री पंडित नेहरू के काल से अब तक भारत ने अपनी विदेश नीति में विश्वशांति, गुटनिरपेक्षता, परमाणु अप्रसार व शांतिपूर्ण सहवास को आधार स्वयम प्रस्थापित किया है। इतिहास स्वयं उन परिस्थितियों को साक्ष्य प्रस्तुत करता है जो साठ व सत्तर के दशक में आर्विभूत हुई व अभी भी आविर्भूत हो रही है। 1962 में चीन ने भारत पर आक्रमण किया और पंचशील की आदर्श मान्यताओं को ध्वस्त किया, और भारतीय भूक्षेत्र का एक बड़ा हिस्सा अनधिकृत तरीके से अपने आधिपत्य में ले लिया। आज भी वह भूखंड भारत-चीन के उत्तरोत्तर संबंधों के बीच एक मुख्य समस्या है। 1965 ई0 में पाकिस्तान ने भी ऐसे ही किया और सीमा पर भारतीय भूखंड का एक क्षेत्र अपने अधिकार में रखे हुए है। यह भी एक सर्वव्यापी तथ्य है कि 1964 में चीन ने अपना नाभिकीय विस्फोट किया और तब से भारत की स्थिरता व अखंडता के लिए एक सतत् खतरा कायम है। दक्षिण एशिया क्षेत्र को अशांति कर सकता है, तो ऐसी वस्तुस्थिति में भारत के लिए भय तथा आतंक संपूर्ण दक्षिण एशिया क्षेत्र को अशांति कर सकता है, तो ऐसी वस्तुस्थिति में भारत के लिए यह अपरिहार्य है कि वह नाभिकीय परमाणुविक रास्तों पर चलकर स्वयं को परमाणुविक सशक्तिकरण की तरफ अग्रसर करे। छिपे एवं घुसपैठिए, षड्यंत्रक, आक्रामक प्रयासों ने न केवल भारतीय उपमहाद्वीप को प्रभावित किया है, बल्कि समाजशास्त्रीय दृष्टि से दक्षिण एशिया की संपूर्ण भू-राजनीतिक संरचना और परिस्थिति में आमूल परिवर्तन आए है। यह सत्य है कि मार्च, 2000 में अमेरिकी राष्ट्रपति विलियम जैफरसन क्लिंटन के भारत आगमन तथा साथ ही पड़ोसी देशों में संपर्क व भ्रमण के फलस्वरूप पश्चिम के राष्ट्रों की दृष्टि में कश्मीर समस्या पर दृष्टिकोण परिवर्तित हुआ है। राष्ट्रपति क्लिंटन का भारत-भ्रमण न केवल अमेरिका बल्कि फ्रांस, ब्रिटेन, जर्मनी आदि देशों के राजनीतिक दृष्टिकोणों और भारत के प्रति संबंध के स्वरूपों को परिवर्तित किया है। इन्हीं देशों ने सर्वप्रथम भारत द्वारा विस्फोट किए जाने पर भारत के विरुद्ध प्रभृति सामाजिक व आर्थिक प्रतिबंधों को लागू कर भारतीय राजनीति और अर्थव्यवस्था को कुंठित करने का प्रयास किया, किंतु राष्ट्रपति क्लिंटन के भारतीय उपमहाद्वीप में वस्तुस्थिति के प्रत्यक्ष अवलोकन के बाद पश्चिमी राष्ट्रों के पूर्वाग्रहित मोहपाश भंग हुए हैं, और वर्तमान में बहुतेरे पूर्व आलोचक देश जैसे फ्रांस, ब्रिटेन, जर्मनी तथा स्वयं संयुक्त राज्य अमेरिका ने भारत के साथ अंतर्राष्ट्रीय संबंधों के आयाम बदले हैं। उदाहरण के लिए आरोपित प्रतिबंधों का पटाक्षेप और फ्रांस, जर्मनी, ब्रिटेन तथा अमेरिका द्वारा वैज्ञानिक, आर्थिक, प्राविधिक एवं परमाणुविक क्षेत्रों में परस्पर सहयोग उभयपक्षीय व्यापारिक संबंध अंतरिक्षयानों और आयुध सामग्रियों की इन राष्ट्रों द्वारा भारत को विक्रय आदि कुछ ऐसे नए संकेत हैं, जो समाजशास्त्रीय दृष्टि से भारत के पक्ष को न केवल विश्व स्तर पर आलोकित करने में सक्षम होंगे, बल्कि पश्चिम के उक्त राष्ट्र दक्षिण एशिया में शांति का प्रणेता व प्रवर्तक देश होगा, जिसकी नीति आक्रामक नहीं, बल्कि प्रतिरक्षात्मक है। ऐसी स्थिति में भारत का परमाणिविक क्षमताओं से संपन्न होने का कदापि यह आशय नहीं है कि परमाणुविक हथियारों के संग्रहण की भारत तैयारी कर रहा है (मीडिया रिपोर्ट 20 अगस्त 1999)।

यदि पाँच शक्तिशाली राष्ट्र (पी-5 नशंस), जैसे -संयुक्त राज्य अमेरिका, रूस, फ्रांस, ब्रिटेन और चीन, यदि व्यापक विनाश के रासायनिक, जैविकीय और परमाणुविक हथियार रख सकते है, तो अंतर्राष्ट्रीय कानून की दृष्टि से यह कदापि न्यायोचित नहीं कि दक्षिण एशिया के राष्ट्रों को परमाणुविक शक्तिसंपन्नता से निषिद्ध किया जाए। अंतर्राष्ट्रीय कानून, अंतर्राष्ट्रीय न्यायालय अथवा संयुक्त राष्ट्र संघ की शांति और सुरक्षा के चार्टर में ऐसी कोई निर्देशिका नहीं है, जो भारत को परमाणुविक राष्ट्र बनने से बलपूर्वक निषिद्ध करे। संयुक्त राष्ट्र संघ की असफलताएँ विशेषकर चिली, दक्षिण अफ्रिका, खांडा, फिलीस्तीन, इस्राइल, वियतनाम, कांगो और निकट अतीत में युगोस्लाविया में हुए नरसंहार विध्वंस, विप्लव और राष्ट्रीय संपदा की क्षति को रोकने में न केवल असफलता बल्कि इसकी निरीहता का संपूर्ण विश्व समाजों ने देखा है।

वर्तमान समय में विकसित राष्ट्रों, विशेषकर यूरोप और अमेरिका के लिए यह उचित है कि दक्षिण एशिया की समस्याओं को स्वयं के चश्मे से मानवाधिकार और उदारतावादी नैतिकता के आलोक मे देखें, क्योंकि एशिया में शांति के प्रश्न पर इन्हीं राष्ट्रों ने ज्यादा शोर मचाया है। परिणाम यह रहा है कि दक्षिण एशिया में परमाणुविक युद्ध के खतरे की आशंका और शांतिभंग होने का मनोवैज्ञानिक भय विद्यमान है। दूसरी तरफ यह देखा जाए तो एक वास्तविकता प्रतीत होती है कि यदि दक्षिण एशिया के देश या संपूर्ण एशिया के देश सामाजिक, आर्थिक और प्राविधिक रूप से सशक्त होते हैं, तो पश्चिम की तकनीकी-आर्थिक साम्राज्यवाद का अभेदय दुर्ग ध्वस्त होगा और निःसंदेह रूप से समाप्त हो जाएगा। समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से देखा जाए तो यह परिलक्षित होता है कि अमेरिका और यूरोपीय राष्ट्रों में वर्तमान में एक

मनोवैज्ञानिक संताप उनके तकनीकी इलेक्ट्रानिक और परमाणुविक एकाधिपत्य के क्रमशः कटौती को देखते हुए बढ़ रहा है। एकाधिपत्य के श्रेष्ठता में कटौती ने विकसित राष्ट्रों को बाध्य किया कि वे विकासशील राष्ट्रों को व्यापक परीक्षण निषेध संधि (सी.टी.बी.टी.) और अप्रसार संधि (एन.पी.टी.) पर हस्ताक्षर करने के लिए किसी भी तरह से बाध्य करें। विकसित राष्ट्रों का एशियाई महाद्वीप में शांति की वास्तविक आकांक्षा के लिए उक्त संधियों को हस्ताक्षर के लिए बार-बार कहने की वास्तविकता नहीं रही है; बल्कि इनके तकनीकी प्राविधिक एकाधिकार में कटौती इन्हें ज्यादा कष्टकर लगती रही है। (हडसन,1971; मेंडे, 1971 एवं वैलरस्टीन,1990)।

भारत अपने विदेशी नीति के प्रारंभ से ही अप्रसार संधि और व्यापक परीक्षण निषेध संधि का प्रबल पक्षधर रहा है, लेकिन जिस तरह से संयुक्त राज्य अमेरिका, फ्रांस और ब्रिटेन ने अतीत में बाध्य किया है वह किसी भी प्राकृतिक न्याय के सिद्धांत के प्रमाप द्वारा स्वीकार्य नहीं है। यदि व्यापक परीक्षण निषेध संधि और अप्रसार संधि को स्वीकृति देनी ही हैं, तो वह साम्राज्यवादी निर्देश और पश्चिमी राष्ट्रों के अहम्वादी प्रवृत्तियों से मुक्त होकर संभव हो सकता है। (मीडिया रिपोर्ट, 26 फरवरी 1999 एवं 3 अप्रैल 1999)।

आर्थिक प्रतिबंधों की राजनीति

पश्चिमी राष्ट्रों द्वारा आर्थिक प्रतिबंध लागू करना वास्तविक समाधान नहीं है। पश्चिम के राष्ट्रों ने देखा है कि प्रतिबंधों के दौर में भी भारतीय अर्थव्यवस्था यथोचित चलती रही है, और स्थिरता की दिशा में भारत का कदम आगे रहा है। जिन राष्ट्रों ने प्रतिबंध थोपे थे, वे आज अनुभव कर रहे हैं कि ये प्रतिबंध एकतरफा भारत के लिए केवल हानिकार सिद्ध न होकर इनके उभयपक्षीय अर्थात् दोनों तरफ के लिए दुष्कर रहे हैं। पश्चिम द्वारा थोपे गए प्रतिबंध स्वयं पश्चिमी राष्ट्रों के लिए बड़ी विफलता और हास्यास्पद कदम साबित हुए हैं, क्योंकि इससे संकीर्ण राजनीति उजागर हुई है। प्रतिबंधों के दौर में पश्चिमी राष्ट्रों ने जहाँ भारत पर प्रतिबंध थोपा वहीं पर उन्होंने अपने आर्थिक प्रौद्योगिकीय उत्पादों के विक्रय के लिए एक बड़ा बाजार भी खोया। संयुक्त राज्य अमेरिका सहित कुछ पश्चिमी देशों ने प्रतिबंधों के उपरांत यह अनुभव किया है कि उनके स्वयं के उत्पादों और सामग्रियों के लिए बाजार और विदेशी मुद्रा विनिमय का अभाव खड़ा हुआ है।

निम्नांकित कुछ मौलिक प्रश्नों को रखकर वस्तुस्थिति की समालोचनात्मक व्याख्या अग्रसारित की गई है।

1. दक्षिण एशिया में परमाणुविकरण दक्षिण एशियाई देशों की अंतःजन्य योजना नहीं है, बल्कि दक्षिण एशिया में एक दूसरे के क्षेत्रों में आक्रमण और घुसपैठ की उभरती भू-राजनीतिक प्रवृत्तियों द्वारा उद्भूत एक अपरिहार्य आवश्यकता है।
2. भारत में पड़ोसी देशों और उग्रवादी आक्रामकता, आतंकवादी घुसपैठ और अनधिकृत कब्जे की राजनीति आत्मप्रेरित नहीं है, बल्कि खुशामद की राजनीति की तहत पश्चिमी राष्ट्रों द्वारा अपने तकनीकी-आर्थिक व्यापार के साम्राज्य को बढ़ावा देने के आशय से किए जाने वाले व्यापक षडयंत्रों की उपज है।
3. दक्षिण एशिया में परमाणुविकरण उतना महत्वपूर्ण मुद्दा नहीं है, जितना शांति और क्षेत्रीय संप्रभुता की प्रतिभूति का आश्वासन और प्रतिबद्धता उतना महत्वपूर्ण मुद्दा नहीं है, जितना शांति और क्षेत्रीय संप्रभुता की प्रतिभूति का आश्वासन और प्रतिबद्धता (मीडिया रिपोर्ट-सी.टी. बी.टी. और सन.पी.टी.)।
4. पश्चिमी राष्ट्रों द्वारा दक्षिण एशिया के देशों को लगाातार दी जाने वाले चेतावनी और धमकी कि उनकी संप्रभुता को गौण साबित किया जाएगा या द्वितीयक स्तर की मान्यता दी जाएगी, यदि वे व्यपक परीक्षण निषेध संधि पर हस्ताक्षर नहीं करते हैं। ऐसी चेतावनियां वस्तुतः लज्जाजनक हैं, और इन पश्चिमी शक्तियों के प्रति विद्वेष भाव को जागृत करती हैं।
5. दक्षिण एशिया में वास्तविक रूप से शांति व्यवस्था का अग्रसारण तभी हो सकता हैं, जब पश्चिम के परमाणु संपन्न राष्ट्र दक्षिण एशियाई देशों को अपने रासायनिक, जैविकीय और परमाणुविक हथियारों के उत्पादन और विक्रय को स्वयं अवरूद्ध करें।
6. पश्चिम के विकसित राष्ट्र स्वयं ही एशिया, अफ्रीका और लैटिन अमेरिका के देशों के साथ सहयोग और सान्धिय के तटस्थ एवं वास्तविक दृष्टिकोण को कायम रखने में असफल रहे हैं, क्योंकि उनकी दृष्टि दोतरफा लाभ की प्राप्त की तरफ रही हैं, अर्थात् एक तो अपने उत्पाद वस्तुओं के लिए बाजार बनाना और दूसरा अपने विध्वंसक उपकरणों और हथियारों की बिक्री करना। (हेटर 1971, वैलरस्टीन 1982-90)
7. यहाँ पर इमान्यूएल वैलरस्टीन (1980-90) का उदाहरण प्रासंगिक होगा कि पश्चिम के पूंजीवादी राष्ट्र अपने में अंतर्निहित अन्याय और कठोरता के दृष्टिकोणों के फलस्वरूप अपने स्वयं की व्यवस्था को पराभव के कगार पर ले जा रहे हैं। विकासशील दुनिया के राष्ट्र यह अनुभव कर रहे हैं कि विश्व की वर्तमान आर्थिक और सामाजिक व्यवस्था में अंतर्निहित अन्याय जारी है, जो बहुत दिनों तक कायम नहीं रह सकता है।
8. परमाणुविक अप्रसार और निषेध पूर्ण प्रभावी तब होगा, जब विश्व के उक्त पांच शाक्तिशाली राष्ट्र स्वयं अपने घातक आयुध संसाधनों के समापन का निश्चय और निर्णय लें।

मई और जून, 1999 के कारगिल युद्ध के दौरान संपूर्ण विश्व समाजो ने देखा है कि भारत ने स्वयं प्रतिरक्षात्मक कदम उठाया है और अपनी ही संप्रभुता क्षेत्र में युद्ध के लिए बाध्य हुआ है। भारत का आशय अपनी संप्रभुता के क्षेत्र से अनाधिकृत घुसपैठियों, आक्रामकों और किराए के आतंकवादियों को बाहर खदेड़ना रहा और अपने नियंत्रण रेखा के बाहर जाने का कोई आशय नहीं, लेकिन परमाणु शक्ति संपन्न पांच राष्ट्रों में से किसी के विरुद्ध, फ्रांस्, चीन, रूस और ब्रिटेन मूक दर्शक रहे हैं? इन राष्ट्रों के तथकथित परमाणु शक्ति संपन्न राष्ट्र कहलाने की उपयोगिता क्या है? इसे अंतर्राष्ट्रीय कानून और अंतर्राष्ट्रीय न्यायालय के पटल पर रखना होगा। ऐसे परमाणु संपन्न राष्ट्रों के तटस्थ दृष्टिकोण सर्वथा हास्यास्पद हैं। पश्चिम के राष्ट्रों के सभी राष्ट्राध्यक्षों को यह जानकारी है तथा राजनयिकों को यह भली भांति आभास है कि चीन और पाकिस्तान ने 1962 और 1965 में भारत से क्रमशः युद्ध के दौरान भारतीय भूमि पर अनधिकृत कब्जा किया है, जिसे उन्होंने कभी भी भारत को वापस नहीं किया। ऐसी स्थिति में यदि अमेरिका व यूरोप के राष्ट्र इन दो देशों को न्यायसंगत कदम उठाने के लिए बाध्य नहीं कर सकते तो इन्हें कोई नैतिक अधिकार नहीं है कि ये भारत के परमाणु प्रयास और नीति के विरुद्ध उद्घोष करें। भारत ने निम्नतम परमाणुविक प्रतिरोध क्षमता के सिद्धांत को अंतर्राष्ट्रीय पटल पर स्वीकार किया है, इसके औचित्य को सिद्ध करने की अब अमेरिका, फ्रांस, या ब्रिटेन द्वारा किसी साक्ष्य की जरूरत नहीं है। (मीडिया रिपोर्ट 6 फरवरी 1999; 18 अप्रैल 1999)। भारत के सामने मुख्य समस्या यह है कि इतने लंबे स्वतंत्रता संघर्ष के बाद प्राप्त अपने संप्रभुता की रक्षा करे और संपूर्ण मानव जनसंख्या के छठे भाग को आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक और प्राविधिक क्षमताओं सहित भारतीय जनता के जनतांत्रिक आकांक्षाओं के अनुरूप विकसित करे जो विदेशी आक्रामकता और घुसपैठ जैसा कि अभी युगोस्लाविया में देखा गया है, उससे मुक्त हो।

भारत जैसे देश को परमाणुविक हथियारों के खतरों से मुक्त रखने के लिए यह जरुरी है कि परमाणुविक प्रतिरोध की मान्यता को सक्रिय किया जाए। विगत वर्षों में संपूर्ण विश्व ने देखा है कि भारत ने पाकिस्तान और चीन से संबंध सुधार का सहृदय प्रयास किया है, लेकिन इनके सशक्त षड्यंत्रों के सामने सारे प्रयास चाहे वे सद्भावना यात्रा हो, चाहे मीनार-ए-पाकिस्तान की बुलंदी की कामना हो, इन देशों की घिनौनी राजनीतिक आकांक्षा ने स्वयं ध्वस्त किया है। चीन की स्थिति संदेहास्पद है। एक तरफ तो यह रूस और भारत से सहभागिता स्थापित कर एकध्रुवीय शक्ति अमेरिका के सामने मंच पर आना चाहता है, तो दूसरी तरफ छिपे तौर से अपनी सैकड़ों लड़ाकू विमान और युद्धक सामग्री को पाकिस्तान के हाथों विक्रय करता है, वह भी ऐसी स्थिति में जब भारत-पाकिस्तान के बीच संघर्ष की स्थिति है। वे लोग जो परमाणु

निरस्त्रीकरण के संदर्भ में अंतर्राष्ट्रीय प्रवृत्तियों की तरफ निर्देश करते हैं, केंद्रीयता को मददद करते हैं, जिसका प्रत्यक्ष दर्शन अतीत में युगोस्लाविया में हुआ है। ऐसी वस्तुस्थिति में भारत का निम्नतम परमाणु प्रतिरोध की मान्यता और सिद्धांत अपरिहार्य रूप से आवश्यक है और यह उच्च परमाणुविक आधिपत्य संपन्न एकध्रुवीय विश्व के प्रसंग में और भी आवश्यक है।

वास्तविक चित्रण जो विश्व स्तर पर सामने उभरकार आया है, वह ये कि भारत द्वारा राजस्थान के पोखरण क्षेत्र में किया गया दूसरा परमाणु परीक्षण, कारगिल में ऑपरेशन विजय की सफलता और निम्नतम परमाणुविक प्रतिरोघ का सिद्धांत जिसमें भूमंडल, जलमंडल और वायुमंडल से संबद्ध व्यवस्थाएं हैं, जिन्होंने शक्ति संपन्न पाँच राष्ट्रों और समूह-8 के राष्ट्रों को आंदोलित कर दिया है तथा तथा उनमें उद्वेग और चिंता आविर्भूत किया है। यह उद्वेग और चिंता सर्वाधिक संयुक्त राज्य अमेरिका के व्हाइट हाऊस को हुई है, जिन्होंने यह अनुभव किया है कि भारत का परमाणुविक सिद्धांत सुरक्षा के क्षेत्र में एक आत्मनिर्भर प्रारूप और कदम है, और युद्ध की संभावनाओं का ह्रास करेगा। संयुक्त राज्य अमेरिका और चीन ने प्रारंभ में भारत के उद्देश्यों और कार्यक्रमों का गलत विवेचन किया और निरंतर विरत रहने की चेतावनियां देते रहे। यहां तक की संयुक्त राज्य के कूटनीतिज्ञों ने भारत के इस कदम को गलत चित्रित करते हुए यह व्यक्त करने का प्रयास किया कि यह भारतीय उपमहाद्वीप के हित में नहीं है, न ही संयुक्त राज्य अमेरिका के हित में हैं, न संपूर्ण विश्व के हित में। इस तरह की मिथ्या व्याख्या एक मनोवैज्ञानिक भय की अभिव्यक्ति है, जो आधारविहीन, एकतरफा और औचित्य से परे है।

पश्चिम के शक्तिशाली देशों द्वारा चीख और चिल्लाहट विशेषकर पाँच परमाणुविक राष्ट्रों और उनमें भी सर्वाधिक अमेरिका द्वारा इस आशय का प्रतीक है कि कहीं न कहीं ये राष्ट्र अपने उच्च प्रभुत्व और तकनीकी आर्थिक प्रभार को खाने के भय से ग्रस्त है। भारत के परमाणुविक प्रयोगों से उत्पन्न दक्षिण एशिया और यूरोपीय देशों में जो व्यग्रता है, उसे कल्याणकारी नीति के तर्क और उदारतावादी सामाजिक न्याय के समाजशास्त्र द्वारा नहीं समझा जा सकता है। दक्षिण एशिया में भारत और पाकिस्तान द्वारा परमाणुविक विस्फोट से उत्पन्न भय अधिकांशतः पश्चिमी देशों के लिए मनोवेज्ञानिक और राजनीतिक है। समाजशास्त्रीय एवं राजनीति शास्त्रीय दृष्टि से यदि दक्षिण एशिया के देश अर्थव्यवस्था, राज्यव्यवस्था और प्रविधि तंत्र में आत्मनिर्भर और शक्तिशाली होते हैं, तो वास्तव में संयुक्त राज्य अमेरिका और अन्य पश्चिमी देशों के उच्च प्रभूत्व और दखलअंदाजी में कटौती होगी। परमाणुविक सशक्तिकरण या रासायनिक, जैविकीय और इलेक्ट्रॉनिक क्षमताओं की संपन्नता का वास्तविक उद्देश्य क्या है ? इनका वास्तविक लक्ष्य हिंसा, आतंकवाद पर रोक, अनधिकृत क्षेत्रों में उग्रवादियों के प्रवेश का निषेध और विध्वंसक प्रवृत्ति के अंतर्राष्ट्रीय अपराधियों द्वारा भूमंडलीय विध्वंस, विप्लव और कुव्यवस्था को ही निषिद्ध करना है। वर्तमान में अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर घोषित अपराधी एवं आक्रामक ओसामा बिन लादेन और उसके किराए के उग्रवादी जिन्होंनें विश्व स्तर पर आतंक की घोषणाएं की हैं तो इनके फलस्वरूप आज शांतिप्रिय एवं यथार्थ चिंतन से जुड़े पश्चिम के कुछ लोगों की मानसिकता बदली है। परिणामतः भारत और अमेरिका तथा भारत और फ्रांस के बीच विश्व शांत और सुरक्षा के मुद्दों को लेकर राजनीतिक स्तर पर संवाद शुरु हुए हैं। फ्रांस, रूस और अन्य कुछ यूरोपीय राष्ट्र विश्व स्तर पर उभरते आतंकवाद और हिंसा को समाप्त करने हेतु अब अपरिहार्य अंतर्राष्ट्रीय प्रयासों की आवश्यकता को अनुभव कर रहे हैं। इस आकलन के प्रकाश में परमाणुविक रासायनिक और जैविकीय विध्वंसक साधनों और शस्त्रों के भारतीय प्रयास एवं प्रयोग सदी के इस मोड़ पर कुछ पश्चिमी विकसित देशों में आवश्यक एवं अपरिहार्य जरूरत के रूप में स्वीकार किया है। फ्रांस और रूस ने अपने दृष्टिकोण बदले हैं और भारत के परमाणुविक सशक्तिकरण के दावे के औचित्य को विश्व पटल पर स्वीकार किया है, और यही नहीं, बल्कि संयुक्त राष्ट्र संघ के सुरक्षा परिषद में भारत को संलग्न करने की बहुतेरे पश्चिमी और पूर्ण विकसित और विकासशील

दोनों ही देशों ने खुली वकालत की है। संयुक्त राज्य अमेरिका के प्रेसिडेंसी (व्हाइट हाउस) की आँखें संवेदशीलता के साथ खुली हैं, क्योंकि अमेरिका के न्यूयार्क नगर में 'वर्ल्ड ट्रेड सेंटर' नामक अट्टालिका से लेकर केन्या और तंजानिया में अमेरिकी दूतावासों पर सऊदी अरब के घोषित अंतर्राष्ट्रीय आतंदवादी ओसामा बिन लादेन के द्वारा किए गए बमबारी, विध्वंस और तद्जनित नरसंहार अमेरिकी संवेदशीलता को वस्तुस्थिति की तरफ बढ़ाया है। बिन लादेन की अमेरिकी व्हाईट हाऊस को बम द्वारा उड़ाने की खुली चुनौती तथा कश्मीर में 'जेहाद' (धर्मयुद्ध) छेड़ने की चेतावनियाँ संपूर्ण विश्व समुदाय को आंदोलित किया है।

ऐसी वस्तुस्थिति में मेरे आकलन में कोई भी विवेकसंगत व्यक्ति भारत के नाभिकीय परीक्षण का तर्क के पृष्ठभूमि पर निंदा नहीं कर सकता, जिसकी प्रतिबद्धता 1925 के जेनेवा संधि पर आधारित है जो रासायनिक शास्त्रों के 'प्रथम प्रयोग न करने' का समझौता है। इस समझौते के आधार पर 1993 का रासायनिक हथियार संबंधी अधिवेशन संपन्न हुआ, जिसने व्यापक विनाश के श्रेणी वाले हथियारों के प्रयोग का निषेध किया है। भारत का निम्नतम प्रतिरोध मूलक परमाणुविक कार्यक्रम प्रतिबद्धता के साथ प्रतिरक्षात्मक एवं बिना प्रथम प्रयोग के अभिगम पर आधारित है, जो पूर्णतः जेनेवा समझौते के अनुरूप है, और भारत ने इसे व्यापक परीक्षण निषेध संधि (सी.टी.बी.टी.) और अप्रसार संधि (एन.पी.टी.) के संदर्भ में दोहराया है।

समीक्षा एवं निष्कर्ष

भारतीय अनुभवों से परिलक्षित होता है कि विश्व के सर्वाधिक शक्तिशाली अनुदान देने वाले पश्चिमी देशों में ऋणगृहीता विकासशील देशों पर बेहिचक इस आशय से निरंतर राजतीतिक दबाव डालते रहे हैं कि विकासशील देश विकसित देशों की नीतियों, अभिरुचियों, हितों की प्रशंसा करे और उनके उत्पादों के लिए अपने यहां बाजार कायम करें। इस प्रक्रिया ने तृतीय विश्व देशों को सतत् रूप से मानसिक आभार में दबे रहने के लिए बाध्य किया। आंतरिक रूप से पश्चिमी देशों ने ऐसे भी प्रभाव डाले हैं, जिनका उद्देश्य विकासशील देशों की स्वतंत्रता और संप्रभुता को नगण्य या कम करना है "मीडिया रिपोर्ट", सी.टी.बी.टी. और एन.पी.टी.। पश्चिम से मिलने वाले ऋण एवं सहायता धनराशि को रोकने तथा प्रतिबंध लागू करने के छिपे अथवा खुले संकेत इन देशों में औद्योगिक रूप से विकसित पश्चिम के देशों के तकनीकी, आर्थिक एवं परमाण्विक साम्राज्यवाद और प्रभुत्व को बनाए रखने का ही संकेत है। भारत और अन्य विकसित देश यह अनुभव करते हैं, कि वर्तमान आर्थिक व सामाजिक विश्व व्यवस्था में अंतर्निहित अन्याय कायम है, इसे समाप्त करना होगा। विश्व-व्यवस्था ही पुनर्सरचना तैयार करनी होगी, जिसमें विश्व के अन्य देश विशेषकर विकासशील देश संसाधनों का यथोचित हिस्सा प्राप्त करते हुए उत्पादन प्रक्रिया में अर्थपूर्ण ढंग से अपनी साझेदारी कायम कर सके। तथ्यों के अवलोकन से परिलक्षित होता है कि पश्चिमी शक्तिशाली राष्ट्रों ने स्वयं ही व्यापक परीक्षण निषेध संधि और परमाणु अप्रसार संधि का दुरूपयोग विकासशील राष्ट्रों के विरुद्ध पहुंचाने के उपकरण के रूप में किया है।

इस प्रकार की वस्तुस्थिति में वास्तव में यह सामयिक मांग है कि दक्षिण एशिया के देश परस्पर मैत्री और साहचर्य के साथ तथा समान मतैक्य भाव से एक मंच आएं और पश्चिम के प्राविधिक साम्राज्यवाद की चुनौतियों का सामना करे। व्यवहारतः यह तब संभव है जब दक्षिण एशिया के उपमहाद्वीप में अंतः उपमहाद्वीपीय सुदृढ़ता कायम हो। इस प्रकार के प्रयास पश्चिमी राष्ट्रों द्वारा थोपे गए प्रतिबंधों को न केवल निष्क्रिय करेगा, बल्कि दक्षिण एशिया के देशों की बहुतेरी समस्याओं जैसे – निर्धनता, अज्ञानता, निरक्षरता, भूखमरी, अभावबोध, सांप्रदायिकता संघर्ष, सजातीय और क्षेत्रीय आंदोलन आदि के समाधान और उन्मूलन के उपकरणीय महत्व का सिद्ध होगा।

संदर्भ

1. बाउर, पी.टी., 1972, डिसेन्ट आन डेवलपमेंट, कैंब्रिज मास, 49-68।

2. बेत्तेई आन्द्रे, 1990, रिथिंकिंग डेवलपमेंट, पेपर प्रेजेन्टड एट 21वाद सेन्चूरी ट्रस्ट कांफ्रेंस, कैम्ब्रिज, कैम्ब्रिज, यू. के.: 12-21 जनवरी।
3. सी.एस.ई 1982 एण्ड 1985, दी स्टेट ऑफ इन्डियाज इन्वायरमेंट : ए सीटिजन रिपोर्ट, नई दिल्ली, सेन्टर फार साइंस एण्ड इनवायरमेंट।
4. दूबे, एस.सी. 1994, ट्रेडिशन एण्ड डेवलपमेंट, नई दिल्ली विकास पब्लिसिंग हाऊस प्रा. लि.।
5. हायटर टेरेया 1971, एड एज इन्टरिलिज्म, न्यूयार्क 159-59।
6. हडसन मिचेल 1977, दि माइथ ऑफ एड, न्यूयार्क पृ. 13-64।
7. मेन्दे टीबर 1973, फ्राम एशिया टू रिकोलोनाइजेशन, लेसन्स ऑफ ए फेल्योर, नई दिल्ली 36।
8. नन्दी, आशिष, 1989, ट्रेडिशन, ट्रेनिज एण्ड यूटापियाज, नई दिल्ली आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस।
9. पांडेय, पी.एन. 1998, डाइलमाज ऑफ डेवलपमेंट एण्ड स्ट्रगल फार चेंज : दि केस ऑफ दी थर्ड वर्ल्ड, पोस्टर प्रेजेंन्टेड इन दि XXV आल इंडिया सोशियोलॉजीकल कान्फ्रेंस हेल्ड ऑन दिसंबर 17-19, डिपार्टमेंट ऑफ सोशियोलॉजी, अलीगढ़ मुस्लिम यूनिवार्सिटी, अलीगढ़, इंडिया, पब्लिस्ड इन दि अब्स्ट्रेक्ट ऑफ दि कान्फ्रेंस।
10. दी टाइम्स ऑफ इंडिया, मई 11, 1999, आल्सो अगस्त 20,1999।
11. दी टाइम्स ऑफ इंडिया, अगस्त 20, 1999, आल्सों सितंबर 25,1999।
12. दी टाइम्स ऑफ इंडिया, फरवरी 26, 1999, एंड अप्रैल 12, 18, 1999।
13. वालरस्ट्रेन, ई. : 1982, दी पॉलिटिक्स ऑफ वर्ल्ड इकोनामिक, न्यूयार्क।
14. वालरस्ट्रेन, ई. : 1984, दी माडर्न वर्ल्ड सिस्टम्स, न्यूयार्क।
15. वालरस्ट्रेन, ई. : 1990, आफ्टर लिबरलिस्म, न्यूयार्क।
16. नन्दी, ए. 1989, साइंस हेजीमनी एंड वायोलेन्स, ए रिक्यूम फार माडर्निटी, न्यू दिल्ली, आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी।
17. सुटान, एफ. एक्स. 1989, डेवलपमेंट आइडियोलाजी, इट्स इमरजेंसी एण्ड डिक्लाइन, डेइडेल्यूज, वाल्यू 118, नं. 1, विन्टर।

14

सांख्य दर्शन

*—डॉ. अणिमा सेनगुप्त**

सांख्य का प्रधान मत

यह एक सर्वस्वीकृत तथ्य है कि सांख्य प्राचीनतम दर्शनों में से एक है क्योंकि शास्त्रीय सांख्य के तंत्रबद्ध स्वरूप का उदय जिन बीजों से हुआ है, वे प्राचीन भारत के अनेक दर्शन-ग्रंथों में बिखरे हुए हैं। वेद, उपनिषद, इतिहास, गीता, पुराण आदि में साख्य अवधारणाओं और विचारों का उल्लेख है। पुरुष-प्रकृति के स्वरूप एवं संबंध के विषय में जो मत है, वही सांख्य का मूलभूत मत है। प्रत्यगात्मा शुद्ध चित्-स्वरूप है तथा हमारे सभी अनुभवों की आधारभूमि है- यह औपनिषद दर्शन का प्राचीनतम उत्पन्न विषय है। पर कैसे एक नित्य तत्व से यह वैचित्र्यमय व्यावहारिक जगत उत्पन्न हुआ, इसकी स्पष्ट व्याख्या उपनिषदों में नहीं मिलती।

यह वैचित्र्यमय जगत-प्रकृति से विकासक्रम के अनुसार किस प्रकार प्रकट हुआ इसकी व्याख्या करने के लिए सांख्यशास्त्र प्रवृत हुआ हुै। जगत् का उपादान कारण प्रकृति परिणामी, नित्य एवं अचेतन है। प्रकृति स्वभावतः सक्रिय है। पुरुष कोई सक्रिय कारण नहीं है। वह अपनी सन्निधि मात्र से प्रकृति को चैतन्ययुक्त करता है जिससे यह अचेतन प्रकृति, सृष्टि करने के लिए समर्थ हो जाती है। सृष्टि-क्रिया में प्रकृति का ही स्थान प्रधान है, पुरुष का नहीं[1]। प्रकृति में चैतन्य न उपादान-कारण है और न प्रयोजक (सक्रिय) कारण है। नानात्व या वैचित्र्य का सीधा संबंध प्रकृति से होता है, पुरुषतत्व से नहीं। पुरुष प्रकाशात्मक चैतन्य[2] और आसक्ति (अनादिकर्म-प्रवाह से जनित) के कारण ही हम आत्मा में व्यावहारिक जीवन की सभी अशुद्धियों का आरोप करते हैं। आत्मा के शुद्ध स्वरुप की उपलब्धि तथा प्रकृति से उसकी भिन्नता का ज्ञान ही इस सतत प्रवाहशील संसार चक्र का अंतिम लक्ष्य है।

विश्व को उत्पन्न करने वाला कर्तृत्व प्रकृति का है, सत्व-रज-तम में ही यह कर्तृत्व रहता है। तीनों गुणों की साम्यावस्था प्रकृति का मूलरुप है। अविवेक के कारण पुरुष संयोग के द्वारा यह साम्यावस्था जब नष्ट होती है तब यह वैचित्र्य-पूर्ण जगत् आविर्भूत होता है। यह विविधता जीवात्माओं के कर्म-जनित धर्म-अधर्म मे आश्रित रहती है। सांख्य के विभिन्न संप्रदायों में विभिन्ता एवं बाह्य जगत के विकास से संबंधित क्रम एवं प्रक्रिया के विषय में पर्याप्त मतभेद है। सांख्यकारिका से प्राचीन सेश्वरसांख्य में तथा शास्त्रीय सांख्य में प्रकृतिक्षोमकारी शक्ति की व्याख्या पृथक-पृथक रूप से की गई है। कारिका पूर्व सेश्वरसांख्य में प्रकृति और पुरुष को एक दिव्य सत्ता के के अंशों या शक्तियों के रूप में माना गया है तथा उनके संयोग-वियोग को कभी-कभी काल के द्वारा उत्पन्न माना गया है। उसे ईश्वर की दिव्यशक्ति या प्रयत्न के रूप में कल्पित किया गया है, पर शास्त्रीय सांख्य में माना गया है कि प्रकृति अचेतन होने के बावजूद एक प्रकार की प्रयोजनवत्ता से युक्त होती है जिससे त्रिगुण पुरुष को विविध अनुभवों के रूप में भोग तथा बुद्धिलय द्वारा साध्य अपवर्ग प्रदान करने में समर्थ होती है। बुद्धि त्रिगुणातीत पुरुष[3] का कोई वास्तविक संबंध नहीं है, पर बुद्धि में अनादिकाल से विद्यमान सर्वातिशायी भ्रम

[1]प्रकृति में चैतन्य का जो प्रतिबिंब होता है, वही सृष्टि का मूल प्रवर्तक कारण है। [2]मात्र है। जगत के साथ आत्मा का संबंध बाह्य एवं कृत्रिम (नैमित्तिक) है। अज्ञान[3] एवं प्रकृति के प्रतीयमान संयोग में कड़ी का काम करती है। बुद्धि के साथ पुरुष

अनुवादक : डॉ. राम शंकर भट्टाचार्य, डी-38/8, हौज कटरा, वाराणसी, (म.त. महायोजना के अंतर्गत)

के कारण बुद्धि-पुरुष का भेद ज्ञात नहीं होता। यह भ्रम ही पुरुष का बंधन माना गया है। शास्त्रीय सांख्य के अनुसार यह भ्रम (अविधा) पुरुष-प्रकृति का अविवेक है और यह अविध ही सभी दुःखों का कारण है। जब यह अविद्या चिरकाल के लिए नष्ट हो जाती है, तब पुरुष का शुद्य चैतन्य रूप स्वभाव अबाधित रूप से प्रकट हो जाता है। यही मोक्षावस्था अर्थात् सांसारिक दुःख-शोक से मुक्ति है।

सांख्य का दृष्टिकोण दुराग्रहपूर्ण नहीं है। सुसंगत तर्कों से पुरुष एवं प्रकृति की सत्ता प्रमाणित की गई है। मानवीय अनुभव के पूर्ण विश्लेषण के आधार पर इस शास्त्र का दार्शनिक सिद्धांत प्रतिष्ठित है। अनुभव के लए एक ओर तो अनुभव की वस्तुएँ, शरीर, ज्ञानेद्रियाँ, अहंकार, मनस और बुद्धि आवश्यक हैं और दूसरी ओर चैतन्य। अनुभव के बाह्य कारकों का आधार प्रकृति है और पुरुष चैतन्य का आधार है। अनुभव के मूल में अवस्थित ये दो तत्व (प्रकृति तथा पुरुष) नित्य हैं। ये दो परस्पर पृथक हैं, पर अनादि अविवेक के कारण इन दोनों में एकत्व की मिथ्या बुद्धि होती है (एकमेव दर्शनम्) तथा प्रकृति के परिणामों एवं विकारों का मिथ्या आरोप पुरुष पर किया जाता है। अतएव यह विवेकाग्रह (भेद का बोध न होना) पुरुष-प्रकृति के विवेकज्ञान के होने पर ही नष्ट होता है। सत्य तो यह है कि मूलभूत तत्वों एवं उनके स्वरूप तथा विशिष्ट कार्यों की जानकारी के उपाय के रुप में मानवीय अनुभवों का विश्लेषण भारत के सभी दर्शनों द्वारा किया गया है। साथ ही यह भी ज्ञातव्य है कि भारत के सभी दर्शनों की एक अन्य विशेषता यह है कि ये बौद्धिक उत्सुकता की तृप्ति मात्र के लिए प्रयास नहीं करते बल्कि जीवन में ज्ञान की ज्योति भरना उनका लक्ष्य है और इस प्रकार वे सांसारिक दुःखों से मुक्त मनुष्यों को मुक्ति दिलाने में सहायता प्रदान करते हैं। अतएव भारत में दर्शनशास्त्र को मोक्ष शास्त्र भी कहा जाता है। सांसारिक जीवन दुःखशोकमय तथा आशा-निराशा बहुल है और सुदृढ प्रयत्न करने पर भी मनुष्य चिरस्थायी सुख को प्राप्त करने में समर्थ नहीं होता। इसलिए मनुष्य को चाहिये कि वह इस जगत् के परिवर्तनशील दृश्यों से ऊपर उठ जाए, जिससे वह मुक्ति पा सके। जागतिक सुख एवं लाभ के प्रति जो तृष्णा है उसे तत्वज्ञान द्वारा नष्ट किया जा सकता है। तत्वज्ञ ज्ञान कर्म के फलों को नष्ट करता है और इस प्रकार जन्म-मृत्यु के चक्र को समाप्त कर देता है।

सांख्य-दर्शन का संक्षिप्त मूल्यांकन

यदि हम सांख्य की दार्शनिक स्थिति पर विचार करें तो हम यह अनुभव करेंगे कि अद्वैत आत्मवाद इस दर्शन का स्वरूप प्रदर्शक नहीं हो सकता। सांख्य विभिन्न जीवों के सुख-दुखों में वास्वतिक भेद मानता है। यह अंतर अनुभव द्वारा सिद्ध है, अतः सत्य है - ऐसा मानना चाहिये। जड़ और चेतन का भेद, पदार्थों का भेद तथा जीवों का परस्पर भेद – सब वास्तविक है। वास्तविक होने के कारण ये सब भेद अनुभव के सभी स्तरों में विद्यमान रहते हैं। भेद के मिथ्यात्व में अद्वैत वेदांत का विश्वास है, अतः अद्वैत वेदांत सम्मत मुक्ति में भेद के सभी प्रकार तिरोहित हो जाते हैं।

अतएव यदि हम सांख्य की दृष्टि से व्याख्या करना चाहें तो हमें पग-पग पर तार्किक व्याघात एवं अनियमितताएं मिलेंगी क्योंकि अद्वैती दृष्टि के अनुसार बुद्धि अंहकार-आदि द्वारा उद्भूत मिथ्या है। यह पूर्णतः कल्पनाप्रसूत है, जबकि अखंड चित रूप ब्रहम् ही एकमात्र सत्य है। परंतु सांख्यीय दृष्टि में बुदधि-अहंकार आदि कदापि मिथ्या नहीं है, वे चैतन्य की तरह ही वास्तविक है, पुरुष के साथ इनका संबंधमात्र मिथ्या है। चूँकि बुद्धि, अहंकार, वासना, संस्कार आदि वास्तविक हैं, इसलिए विभिन्न जीवों के व्यावहारिक जीवनो में इनके द्वारा कृत भेद भी वास्तविक है। विभिन्न बुद्धियों में अवस्थित विभिन्न प्रतिबिंबों में जो भेद है, वह भी वास्तविक है। चूँकि प्रतिबिंब परस्पर भिन्न हैं इसलिए बिंब अवश्य ही भिन्न होंगे। वस्तुतः कारणों के वास्तविक भेदों से उनके कार्यों में भी वास्तविक भेद आ जाते हैं। व्यावहारिक क्षेत्र में हम जीवों में परस्पर वास्तविक भेद देखते हैं और अवश्य ही यह भेद देशकालातीत क्षेत्र में भी विद्यमान रहेगा। बुद्धियां भिन्न हैं, प्रतिबिंब भिन्न हैं एवं बिंब अर्थात् पुरुष भी भिन्न हैं। जब कोई पुरुष पूर्णतः मुक्त हो जाता है, तब प्रतिबिंब नष्ट हो जाता है, पुरुष अपनी बुद्धि से पूर्णतः विमुक्त हो जाता है और बुद्धि प्रकृति में लीन हो जाती है। सृष्टि में बहुत्व एवं भेद वास्तविक हैं और विभिन्न पुरुषों में विभिन्न अविवेक हैं – ऐसा मानकर इसकी संतोषजनक व्याख्या की जा सकती है। सृष्टि विषय बहुसंख्यक हैं तथा इन विषयों को नाना प्रकार से प्रकाशित करने वाले जीवात्मा भी बहुसंख्यक हैं। यदि हम माने कि चैतन्य एक है तथा असत उपाधियों के कारण उसकी नाना रूपों में प्रणीत मिथ्या है तो हम सांख्य की वास्तववादी एवं द्वैतवादी स्थिति के साथ न्याय नहीं कर पाएँगे। उपाधिगत भेदमात्र द्वारा उपाधि से अविच्छिन्न वस्तु में वास्तविक भेद कभी भी नहीं किया जा सकता। कोई मनुष्य विभिन्न कालों में विभिन्न प्रकार का वस्त्र पहन सकता है, पर परिधेय वस्त्र का यह भेद वस्त्र के पहनने वाले मनुष्य में कोई वास्तविक भेद नहीं उत्पन्न कर सकता। सांख्यीय दृष्टि के अनुसार सभी प्रकार के भेद नित्य हैं। यदि अनित्य उपाधि से भेद उत्पन्न हो तो उपाधि के नाश के साथ भेद नित्य हैं। यदि अनिन्य उपाधि से भेद उत्पन्न हो तो उपाधि के नाश के साथ भेद भी नष्ट हो जाएगा और यदि भेद नष्ट हो गया तो सांख्य की जो वास्तववादी एवं द्वैतवादी स्थिति है, वह बनी नहीं रह सकेगी।

यह सोचना गलत है कि सांख्य के अनुसार प्रकृति एवं पुरुष पूर्णतः पृथक एवं स्वतंत्र हैं तथा इस पार्थक्य के कारण वे कभी संयुक्त नहीं हो सकते और इस संयोगाभाव के कारण कभी भी सृष्टि के रूप में विकास नहीं हो सकता। वस्तुतः सांख्यीय दृष्टि में जो संबंध सृष्टि के लिए उपयोगी है वह अनादिकाल से ही प्रकृति-पुरुष में विद्यमान रहता है। जिस प्रकार अनादिकाल से ही माया के साथ ब्रहम का संबंध है[1], इस संबंध के विषय में 'क्यों' और 'कब' को लेकर कोई भी प्रश्न संगत रूप से उठाया नहीं जा सकता।

सांख्य के अनुसार जड़-चेतन का जो विवेकाग्रह (भेदज्ञान न होना) है, वह अनादि है, ठीक वैसे है जिस प्रकार अद्वैत वेदांत में माया अथवा अविद्या अनादि है। जीवन्मुक्त अवस्था में भी बुद्धि-पुरुष का संबंध नष्ट नहीं होता। उस अवस्था[2] में पुरुष (बुद्धि से अपने पार्थक्य का अनुभव करता है और इस प्रकार वह बुद्धि के प्रति आसक्तिशून्य हो जाता है। यह विवेकाग्रह ही प्रकृति की सृष्टिकारिणी शक्ति है। पुरुष-प्रकृति रूप दो विभु पदार्थों का संबंधमात्र सृष्टि का प्रवर्तक कारण नहीं है। अतः विवेक ग्रह अनादि है, सृष्टि भी अनादि है। अतएव ईश्वररूप तृतीय संयोजनकारक तत्व के अभाव में भी प्रकृति से जगत् के उद्भव को समझने में कोई कठिनता नहीं होती। प्रकृति का अचेतन स्वभाव भी जगत की उत्पत्ति के इस व्यापार में कोई नई कठिनाई उत्पन्न नहीं करता। अद्वैत-वेदांत की दृष्टि के अनुसार भी माया अचेतन है फिर भी वह व्यवहार साधक जगत को उत्पन्न करने में समर्थ होती है।

जगत कारण भूत प्रकृति चेतना विशिष्ट है। यह प्रकृति एक संहत पदार्थ है, जिसमें उत्पादिका शक्ति के रूप में अविवेक कार्य करता है। यही कारण है कि प्रकृति से जगत् का विकास प्रयोजन साधक होता है।

सांख्य दर्शन का विकास

उपनिषदों के द्वैतवादपरक उपदेशों से इस दर्शन के विकास का इतिहास शुरू होता है। उपनिषदों में प्रकृति, पुरुष एवं जीव से संबंधित मत है। उपनिषद् कहता है कि त्रिगुण ही जीवात्मा के बंधन का हेतु है क्योंकि भोग्य जगत् इन गुणों से ही निर्मित होता है। वृद्धावस्था में जीवात्मा स्वगत देशकालातीत पुरुष को देख नहीं पाता। प्रकृति तथा जीवात्मा दोनों ही देशकालातीत परम चैतन्य के ही अंश-विशेष हैं। इस ईश्वरवादी सांख्य का परवर्ती विकास महाभारत और गीता में मिलता है, यद्यपि महाभारत में निरीश्वरवादी सांख्य के भी दर्शन होते हैं। सांख्य के इस निरीश्वरवाद का एक उत्कृष्ट प्रतिपादन पंचशिखोवत मत में मिलता है जिसके अनुसार तत्व चौबीस ही हैं। वैष्णव संप्रदाय के अंतर्गत सांख्यीय उपदेशों में इस सेश्वर सांख्यीय दृष्टि का सुदृढ़ प्रतिपादन मिलता है। चरमसंहिता के अंतर्गत सांख्य, जो पंचशिख के विचारों का अनुगामी प्रतीत होता है, परंपरागत ईश्वरवादी सांख्य से पूर्णतः भिन्न एक नई धारा का प्रतिपादन करता है। शास्त्रीय सांख्य को चरकोक्त सांख्यमत का ही अधिक विकसित रूप समझा जा सकता है, यद्यपि कई विषयों में यह चरकीय सांख्यमत से भिन्न है। शास्त्रीय सांख्य एवं चरकोक्त सांख्य में एक मुख्य सादृश्य यह भी है कि दोनों में ईश्वर को विश्व का परम नियामक एवं सर्वव्यापी तत्व नहीं माना गया है।

[1]उसी प्रकार पुरुष-प्रकृति में अनादिकाल से ही सृष्टि के लिए उपयोगी संबंध विद्यमान है।

[2]भी बुद्धि एक तत्व के रूप में बनी रहती है, पर जीवन्मुक्त अवस्था में

◆

15

साँख्य में ज्ञानमीमांसा

—डॉ. अणिमा सेनगुप्त*

सांख्य संप्रदाय में ज्ञानमीमांसा संबंधी जो धारणा है वह उपलब्ध साँख्य ग्रंथों में विशेष रूप में प्रतिपादित नहीं हुई है। साँख्यकारिका एवं साँख्यसूत्र में ज्ञानमीमांसा संबंधी विशद विचार की एक स्पष्ट रूपरेखा मिलती है। यहाँ साँख्यीय ज्ञानमीमांसा (प्रमाण और प्रमाणजन्य प्रमिति रूप ज्ञान का विचार) को निम्नोक्त शीर्षकों में बाँटकर उस पर विचार किया जा रहा है: (1) ज्ञान का स्वभाव (2) ज्ञान के प्रकार, (3) ज्ञान यथार्थता (प्रामाण्य) और अयथार्थता (अप्रामाण्य) (4) योगज प्रज्ञा की सत्यता, (5) भ्रम (विपर्ययज्ञान)।

ज्ञान का स्वभाव: शुद्ध चैतन्य और वृत्तिरूप ज्ञान (जो कभी-कभी ज्ञान शब्द से अभिहित होता है) का भेद सांख्य में स्वीकृत हुआ है। पुरुष ही शुद्ध चैतन्य है। पुरुष प्रकाशमात्र है और यही कारण है कि यह प्रकृति-पुरुष विवेक रूप ज्ञान (यह वृत्तिरूप ज्ञान है) से भी पृथक् है। शुद्ध चैतन्यरूप पुरुष अकर्ता साक्षीमात्र है, वे द्रष्टा है, उदासीन है। बुद्धि बिंब दवारा बुद्धिवृत्ति का प्रकाशन ही वृत्तिज्ञान या ज्ञान है। प्राकृत वस्तुओं का ज्ञान तथा प्रकृति-पुरुष-भेद का ज्ञान, ये दो वृत्तिज्ञान में अंतर्भूत होते हैं।

ज्ञान के भेद: वृत्तिज्ञान या ज्ञान दो प्रकार का है (1) अविवेकज्ञान, अर्थात् बुद्धि और पुरुष का भेद न जानना तथा (2) विवेकज्ञान, अर्थात् बुद्धि-पुरुष का भेद ज्ञान।

अविवेकज्ञान का अर्थ है– प्राकृत वस्तुओं का ज्ञान। यह प्रधानतः हमारे सामान्य जीवन का वह ज्ञान है जिसके कारण शुद्ध चैतन्य और चेतनवत् बुद्धि इन दोनों का पार्थक्यज्ञान नहीं होता और अज्ञानवश दोनों को एक समझ लिया जाता है। बुद्धि एक ओर पुरुष से चित्प्रतिबिंब प्राप्त करती है तथा दूसरी ओर उन विषयों के आकार में परिणत होती हैं जिनको वह इंद्रियों के माध्यम से प्राप्त करती है। चेतनसदृश बुद्धि के साथ विषय का वास्तविक संबंध है, परंतु विषय पुरुष में प्रतिबिंबित होता है और इसलिए पुरुष से उसका संबंध आभासमात्र होता है।

विवेकज्ञान: दृश्य वस्तु से पृथक् आत्मा है ऐसा जानना विवेकज्ञान है जो मुक्ति का साक्षात् हेतु है। यह ज्ञान तत्वाभ्यास या योगाभ्यास से होता है। यह वृत्तिज्ञान का सर्वोत्कृष्ट रूप है और सांसारिक जीवन में वृद्धावस्था से संबंधित विषयज्ञान पर प्रतिष्ठित है। कूटस्थनित्य सत् पदार्थ (अर्थात् पुरुष) इस विवेकज्ञान के भी ऊपर है। अस्मिता युक्त संप्रज्ञान समाधि में अस्मिता तत्व या महतत्व (नानात्व का बीज इसमें ही रहता है) का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है तथा विषयज्ञाता के रूप में अपना पार्थक्य भी ज्ञात होता है यद्यपि यह वृत्ति-ज्ञान की सर्वोच्च अवस्था है तथापि यह पुरुष के स्वरूपावस्थान की अवस्था नहीं है (इस अवस्था में वृत्ति में प्रतिबिंबित हुए बिना चैतन्य चितस्वरूप पुरुष प्रतिष्ठित होता है)। सास्मित समाधि में जो विवेकज्ञान है, वह स्वरूपावस्थान के एक पद नीचे है। यह स्वरूपावस्थान सर्ववृत्तिशून्य असंप्रज्ञातसमाधि में अधिगत होती है। इस सास्मित समाधि में 'नमै नाई नास्मि' रूप ज्ञान प्रकट होता है।

ज्ञान की यथार्थता और अयर्थाथता: ज्ञान की यथार्थता (प्रामाण्य) और अयथार्थता (अप्रामाण्य) स्वतः हैं, जहाँ तक ज्ञान की उत्पत्ति का प्रसंग है। जो कारण सामग्री ज्ञान और उसके प्रामाण्य की उत्पन्न करती है उससे ही ज्ञान की यथार्थता का निश्चय होता है। ज्ञान की प्राप्ति के प्रसंग में अप्रामाण्य परत है (प्रवृत्ति की असफलता होने पर अप्रामाण्य ज्ञान होता है)।

भ्रम: सांख्यानुसार भ्रम की व्याख्या यह है: भ्रम दो प्रकार का है (1) एक विषयाश्रित अर्थात् जहाँ अवयव (व्यष्टि) की अवयवी (समष्टि) के रूप में समझा जाता है तथा (2) जो दो विषयों पर आश्रित है अर्थात् जहाँ दोनों का भेद लक्षित नहीं होता। शुक्ति में रजत का जो ज्ञान होता है, वह प्रथम प्रकार के भ्रम का उदाहरण है। लाल फूल के सामीप्य में श्वेत स्फटिक जो रक्त स्फटिक के रूप में भासित होता है, वह दवितीय प्रकार के भ्रम का उदाहरण है। इन दोनों प्रकार के भ्रम में अविवेक (पार्थक्य ज्ञान का अभाव) है। सांख्ययोग के प्राचीन ग्रंथों में इस भ्रम की अख्याति कहा गया है। इन ग्रंथों के अनुसार उपर्युक्त स्थलों में आवश्यक ज्ञान का अभाव अथवा लक्षणीय धर्म या गुणों को लक्ष्य न करना है।

जब भ्रम का स्वरूप ज्ञान हो जाता है तब किसी भी पूर्वज्ञात वस्तु का बोध नहीं होता। सत्यज्ञान प्रथमोत्पन्न ज्ञान को बाधित नहीं करता, बल्कि उसको संशोधित या पूर्ण करता है। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि भ्रमज्ञान में ज्ञाता की ओर से कोई व्यापार नहीं होता।

उपर्युक्त मत सांख्यसूत्र में परिवर्तित हुआ है। भ्रम में ज्ञाता का जो व्यापार है उसका प्रतिपादन सांख्यसूत्र में किया जाता है, अर्थात् यद्यपि, भ्रमस्थल में संबंधित दोनों पदार्थ सत् हैं पर उनका संबंध मानस् कल्पना पर आधारित है। उदाहरणार्थ भ्रम में शुक्तिरूप वास्तव पदार्थ तथा रजत रूप काल्पनिक पदार्थ का ज्ञान देता है। यह मत सदसत् ख्याति कहलाता है। भ्रमज्ञान के विषय में अन्य वास्तववादी दार्शनिकों की जो मान्यता है उसके साथ इस सदसत्ख्याति का सामंजस्य नहीं है।

यौगज प्रज्ञा का प्रामाण्य: विवेकज्ञान एवं स्वरूपस्थिति के लिए जो योगाभ्यास किया जाता है, उससे जब बुद्धि विकल्पवृत्ति से शून्य हो जाती है तब यह प्रज्ञा प्रकट होती है। यह सदैव सत्यार्थ का प्रकाशन करती है और कभी भी मिथ्या नहीं होती।

◆

*अनुवादक : डॉ. रामशंकर भट्टाचार्य, डी-38/8, हौज कटरा, वाराणसी, (म.त. महाकोश की योजना के अंतर्गत)

16

साँख्य तर्कशास्त्र

—डॉ. अणिमा सेनगुप्त*

शब्द व्युत्पत्ति की दृष्टि में न्याय का अर्थ है ज्ञान का विज्ञान (विश्लेषणात्मक ज्ञान) और यही कारण है कि ज्ञानमीमांसाशास्त्र और तर्कशास्त्र में कोई मौलिक भेद नहीं है। तर्कशास्त्र की अपेक्षा ज्ञानमीमांसाशास्त्र में ज्ञान के विषय में व्यापक अध्ययन किया जाता है। साधारणतया यह कहा जा सकता है कि ज्ञान का उत्पादक हेतु, ज्ञानप्रक्रिया का विश्लेषण, जिससे प्रामाण्यजनक गुणों का प्रकटन होता हो, मिथ्याज्ञान आदि – ये ही उन विषयों में अन्यतम हैं जिनका अध्ययन विस्तार के साथ तर्कविद्या में किया जाता है। अतः सांख्य में शास्त्र से संबंधित जिन विषयों पर विचार किया जाएगा, वे इस प्रकार हैं:

1. ज्ञान का उत्पादक हेतु : (2) प्रत्यक्ष और उसका विश्लेषण; (3) अनुमान और उसका विश्लेषण; (4) शब्द प्रमाण।

यहाँ हमें यह जानना चाहिए कि भारतीय तर्कशास्त्र में जिन समस्याओं पर विचार किया जाता है वे मनोविज्ञान, ज्ञानमीमांसाशास्त्र एवं अध्यात्मशास्त्र की दृष्टि के अनुसार हैं, शुद्ध तार्किक दृष्टि से अनुसार नहीं। प्रत्येक संप्रदाय की निजी तर्कसिद्ध मूलभूत दृष्टि है जो उसके द्वारा स्वीकृत वैचारिक दृष्टि द्वारा निर्धारित होती है।

प्रत्यक्ष : प्रत्यक्ष ज्ञान निश्चित ज्ञान अर्थात् अध्यवसाय है जो विषय और इंद्रिय के सन्निकर्ष से उद्भूत होता है। बाह्य विषय का बाह्य प्रत्यक्ष ज्ञान होता है जो बाह्य इंद्रिय तथा अंतःकरण (आंतर इंद्रिय) के संयुक्त व्यापार द्वारा होता है। सुख-दुख आदि का जो अंतर प्रत्यक्ष है वह अंतःकरण के व्यापार का फल होता है।

प्रत्यक्ष प्रणाली का विश्लेषण

प्रत्यक्षज्ञान के लिए जो सामग्री अपेक्षित होती हैं वह है :

(1) कोई एक प्रमेय वस्तु जिसके साथ इंद्रिय का सन्निकर्ष है, (2) प्रत्यक्षप्रमाण (जो बुद्धिवृत्ति भी कहलाता है) जो विषय और इंद्रिय के संबंध से उत्पन्न होता हैं, (3) प्रमाता अथवा ज्ञाता, (4) प्रत्यक्षप्रमा अर्थात् प्रत्यक्ष वृत्ति में पुरूष का प्रतिबिंब।

सविकल्प और निर्विकल्प प्रत्यक्ष : प्रत्यक्ष को सविकल्प-निर्विकल्प रूप दो मागों में विभक्त करना भारतीय दर्शनों का एक वैशिष्ट्य है। किंतु इस भेद के विषय में विभिन्न दर्शनों में मतभेद हैं। साँख्य के अनुसार बाह्य इंद्रियों द्वारा अपने नियत विषय का निर्विकल्प ज्ञान ही होता है बाह्य इंद्रियों द्वारा वस्तु का सविकल्प ज्ञान नहीं होता। निर्विकल्प ज्ञान की सांख्यकारिका में 'आलोचनमात्र' ज्ञान कहा गया है। सविकल्प ज्ञान में अपीह (वर्जन) और उपादान (अभिनवसंयोजन) रूप दो व्यापारों का योग होता हैं जो मन के व्यापार हैं। मन के बाद अहंकार और उसके बाद वृद्धि के व्यापारों का योग सविल्पक ज्ञान में होता है। और तभी यह ज्ञान अध्यवसाय कहलाता हैं

अध्यवसाय उस वृद्धि का स्वभावसिद्ध गुण है जो सभी प्रकार के वृत्तिज्ञानों का आश्रय है।

प्रमाता: उपर्युक्त हेतु से यह सिद्ध होता है कि सांख्यकीय मतानुसार अपरिणामी आत्मा (पुरुष) ज्ञान का आश्रम नही है चैतन्य द्वारा व्याप्त बुद्धि ही ज्ञान का प्रमाता (ज्ञाता) होती है।

सन्निकर्ष: यह सत्य है कि उपलब्ध सांख्यग्रंथों में सन्निकर्ष का उल्लेख नहीं मिलता है। ऐसा होने पर भी चूँकि सांख्य ने प्रत्यक्षज्ञान के विषय-इंद्रिय संयोगजनित निश्यचयात्मक ज्ञान कहा है, इसलिए सांख्यीय दृष्टि से भी नाना प्रकार के सन्निकर्षों की सत्ता मानी जा सकती है। अद्वैत वेदांत की तरह सांख्य में भी सन्निकर्ष के भेद किए जा सकते हैं जैसे - (1) द्रव्य के प्रत्यक्ष के लिए संयोगरूप सन्निकर्ष, (2) द्रव्यगत गुण के प्रत्यक्ष के लिए संयुक्त तादात्म्य नामक सन्निकर्ष, (3) द्रव्यस्थ गुण के सामान्य (अर्थात् गुणत्वरूप जाति) के प्रत्यक्ष के लिए भी संयुक्त तादात्म्य नामक सन्निकर्ष, (4) बुद्धिवृत्ति के द्वारा सुख-दुख के प्रत्यक्ष के लिए तादात्म्य नामक सन्निकर्ष। शब्द के प्रत्यक्ष में भी यही सन्निकर्ष माना जा सकता है, जो आकाश के साथ तादात्म्य संबंध से मुक्त है शब्द ग्राहक कर्ण इंद्रिय आकाश द्वारा व्याप्त है।

भ्रम: सांख्यीय दृष्टि के अनुसार भ्रमज्ञान की व्याख्या करने में कोई कठिनता नहीं है। शक्ति में रजत (चाँदी) का ज्ञान भ्रम का एक उदाहरण है। यहाँ (यह रजत है इस बीच में) 'यह' (इदम्) का जो प्रत्यक्ष है वह सद्वस्तु का प्रत्यक्ष है। इस 'यह' (इदम्) के साथ इंद्रिय का सन्निकर्ष होने पर इदंवृत्ति उद्भूत होती हैं। जहाँ तक रजताकार वृत्ति का प्रसंग है वह शुक्ति रजत का अविवेक तथा रजतवासना का उद्बोधन 'युगपत्' इन दोनों के द्वारा बुद्धि में उद्भूत होता है। रजतवासना का उद्बोधन 'युगपत् इन दोनों के द्वारा बुद्धि में उद्भूत होता है। यद्यपि इदंवृत्ति ('यह है' - इस प्रकार का ज्ञान) तथा रजतवृत्ति' (रजत है इस प्रकार का ज्ञान) पृथक् है तथापि दोनों वृत्तियों में एक एवं अभिन्न चैतन्य के प्रतिबिंब होने के कारण एक ही भ्रमज्ञान की उत्पत्ति होती है। यही सांख्य संप्रदाय की सद्सत् ख्याति है।

अनुमान: अनुमानजनित ज्ञान (अनुमिति) वह ज्ञान है जिसमें साध्य वस्तु के आकार में बुद्धि का परिणाम होता है, यद्यपि वहाँ साध्यवस्तु के साथ बाह्यइंद्रिय का सन्निकर्ष नहीं होता है। अनुमान दो पदार्थों पर आश्रित है (1) उस हेतु का ज्ञान जो साध्य के साथ नियत एवं अनौपाधिक रूप से संबंधित हो तथा (2) पक्ष में हेतु की विद्यमानता का ज्ञान।

अनुमानप्रक्रिया का विश्लेषण: अनुमानजन्य ज्ञान अर्थात् अनुमिति (जैसे पर्वत में अग्नि है चूँकि वहां धूम है – यह ज्ञान) को निष्पन्न करने के लिए पहले पर्वतनरूप पक्ष में धूम कर दर्शन आवश्यक है उसके बाद व्याप्ति अर्थात् जहाँ-वहाँ धूम है वहाँ-वहाँ अग्नि है, इस नियम का स्मरण आवश्यक होता है। पर्वत में धूम का ज्ञान अपरोक्ष है पर उसमें अग्नि का ज्ञान प्रत्यक्ष है। यतः एक अभिन्न चैतन्य की अभिव्यक्ति दोनों वृत्तियों (धूमवान पर्वत का ज्ञान तथा पर्वतस्थ अग्नि का ज्ञान) में होती हैं, अतः अनुमिति में एक रूप एक ही ज्ञान (पर्वत में अग्नि में ऐसा) होता है।

अनुमान के भेद: अनुमान दो प्रकार का है यथा (1) वीत (विशेष रूप से ईत अर्थात ज्ञातन) तथा (2) अवीत। वीत यह है जो जहाँ-जहाँ हेतु है वहाँ-वहाँ साध्य है। इस प्रकार की व्याप्ति पर निर्भर है। केवल व्यतिरेकी हेतु जहाँ साध्य नहीं है वहाँ हेतु नहीं है, पर आश्रित अनुमान अवीत है।

व्याप्ति निर्धारण के उपाय: व्याप्ति की अवधारणा के तीन उपाय हैं (1) केवल अन्वयी (किसी के रहने पर किसी का रहना) दृष्टांतों को देखकर (2) अन्वयी एवं व्यतिरेकी (किसी के न रहने पर किसी का न रहना) दृष्टांतों को देखकर, तथा (3) केवल-व्यतिरेकी दृष्टांतों को देखकर।

शब्द: आप्तवचन रूप प्रमाण का तात्पर्य केवल वैदिक उपदेश से है, जो भ्रांतियुक्त मनुष्यों के प्रयास का फल नहीं है। यहाँ बुद्धि उस विषय के आकार में परिणत होती है जिसके विषय में ऐसा कोई प्रतिज्ञावाक्य है जो श्रुतिवाक्य पर आधारित है। कपिल केवल उन विषयों का स्मरण करते हैं जिनको उन्होंने पूर्वजन्म में वेद से जाना था। यही कारण है कि सांख्यीय सिद्धांत (जो उनके द्वारा प्रथमतः आविष्कृत नहीं हैं) निःसंशयरूप से सत्य हैं।

जहाँ तक अन्य प्रमाणों (प्रमा के कारणों) की बात है सांख्यीय दृष्टि के अनुसार उनका कोई स्वतंत्र स्थान नहीं है। ◆

अनुवादक : डॉ० राम शंकर भट्टाचार्य, डी-38/8 हौज कटरा, वाराणसी, (म.त. महायोजना के अंतर्गत)

17

सांख्य - तत्वमीमांसा

—डॉ. अणिमा सेनगुप्त*

मनुष्यों के अनुभव के आधारभूत सत्यों को जानने का प्रयत्न सांख्य तत्वमीमांसा में मिलता है। सांख्य तत्वमीमांसा की विशेषता है उसका त्रिगुणवाद और वह अविचारपूर्वक स्वीकृत नहीं हुआ है। वह मनुष्यों के अनुभव के युक्तियुक्त एवं आलोचनात्मक विश्लेषण का फल है।

विश्व की सभी वस्तुओं का, चाहे वे सरल हों या जटिल, अंतिम आधार शुद्ध सत्ता ही है, वही उनका वास्तविक उपादान है। इस सत्ता में वस्तुओं का ज्ञेयताधर्म निहित है। कोई सद् वस्तु ही ज्ञान के साथ संबंधित हो सकती है और हमारे द्वारा ज्ञात हो सकती है। उदाहरणार्थ, आकाशकुसुम सत्ताहीन होने के कारण कभी भी किसी भी अनुभव का विषय नहीं हो सकता। प्रत्येक अनुभव एक सत्ता है और यह सत्ता ही अनुभव के विषयों का अंतिम नियामक-निर्धारक तत्व है। सांख्यशास्त्री की दृष्टि में यही सत्वगुण है।

अनुभव की वस्तुओं में कई विशेषताएँ रहती हैं, जैसे प्रतिरोधिता, अभेद्यता, आकृति एवं शकल, जो वास्तव में वस्तुओं की संहतता के ही परिणाम हैं। चूँकि वस्तु स्वभावतः संहत होती है, इसलिए वह आकृति ग्रहण कर सकती है और परिवर्तन होने पर भी सर्वथा नष्ट नहीं होती। अतएव संहतत्व या तमोगुण वस्तु में विद्यमान एक और तत्व है। प्रत्येक वस्तु निरंतर परिवर्तित हो रही है। इस परिवर्तन (एक अवस्था से दूसरी अवस्था में जाना) का हेतु एक विशेष गुण है जो रजोगुण कहलाता है। इस प्रकार सत्य, रजस और तमस प्रकृति के तीन अंतिम तत्व हैं और यही पुरुष को होने वाले सभी तरह के अनुभवों के लिए जिम्मेदार हैं। ये गुण उन गुणों से भिन्न हैं जो द्रव्य में उत्पन्न होते हैं। ये (सत्व आदि) गुण द्रव्यरूप हैं। चूँकि ये रज्जु की तरह पुरुष को बांधते हैं, अतः ये 'गुण' कहलाते हैं। चूंकि ये गुण पुरुष से मिला है- (पुरुष के प्रयोजन के साधक के होने से), इसलिए भी ये गुण कहलाते हैं। बाह्य और आंतर सभी विषय, चरम उपादान रूप, इन तीन गुणों के ही विभिन्न प्रकार के संयोग के फल हैं। आंतरक्षेत्र में प्रकाश सत्वरूप उपादान प्रधान भाव से रहता है, जबकि बाह्य वस्तुओं के क्षेत्र में गुरु और आवरणकारक तमोगुण प्रधान्भाव से रहता है।

अनुभूति के दृष्टिकोण से देखने पर यह कहा जा सकता है कि ये सत्व आदि तीन गुण क्रमशः सुख, दुख और मोह के रूप में होते हैं। एक ही वस्तु सत्व आदि गुणों के भेद से तीन प्रकार के व्यक्तियों में क्रमशः सुख, दुःख और मोह (विषाद) की अनुभूति उत्पन्न कर सकती है।

ये गुण अचेतन ही नहीं है, स्वभावतः परिणामशील भी हैं। ये तीन एक साथ एक वस्तु के रूप में रहते हैं।

वस्तु को उत्पन्न करने के लिए ये गुण जब मिलकर क्रिया करते हैं, तब वे एक-दूसरे को प्रभावित करते हैं और इस प्रकार वे नूतन गुणों (द्रव्यातीत धर्म) एवं द्रव्यों को उत्पन्न करते हैं। इन गुणों में परस्पर विरोध ही नहीं हैं, परस्पर सहयोग भी है। अभिभाव्य अभिभावक-भाव से इन गुणों का व्यवस्थाबद्ध होना आवश्यक होता है। इन गुणों के यथोचित सन्निवेश से ही नूतन वस्तुएँ एवं नूतन प्रकार उत्पन्न होते हैं।

गुणों में स्वरूप परिणाम एवं विरूप परिणाम नामक दो प्रकार का परिणाम होता है। साम्यावस्था में स्वरूप परिणाम होता है। इस अवस्था में प्रत्येक गुण तुल्यबल रहता है और गुणक्षोभ उत्पन्न नहीं होता। इस प्रकार का परिणाम अनिर्देश्य, स्वगत-भेद-हीन एवं अव्यक्त होता है – यही प्रकृति कहलाता है। परिणाम का तात्पर्य परिवर्तन से है जो कि क्रियात्मक है।

क्रिया का संबंध रजोगुण से है, अतः स्वरूप परिणाम में भी सत्व और तमः का संबंध रजोगुण से रहता है। यही कारण है कि इस साम्यावस्था में एक रूप परिणाम (अर्थात् जिसमें एक गुण अन्य गुण का अभिभव नहीं करता) होता है। रजः में स्वभावतः क्रियाशक्ति है- पुरुष संयोग के कारण प्रकृति में क्षोभ उत्पन्न होने पर वह राजस क्रियाशक्ति उत्कट हो जाती है। रजः की साम्यावस्थापन्न क्रियाशक्ति वैषम्यावस्था में उत्कट हो जाती हैं, जिसके फलस्वरूप वैषम्यावस्था में सत्व, रजः और तमः की प्रधानता के अनुसार परिणाम उत्पन्न होते हैं। गुणों के व्यापारों में होने वाले इस आधिक्य के फलस्वरूप नूतन पदार्थों की उत्पत्ति होती है।

प्रकृति

त्रिगुण से पृथक प्रकृति नाम की कोई वस्तु नहीं है। जब गुण साम्यावस्था में रहते हैं और किसी धर्म की अभिव्यक्ति नहीं होती तब यह अवस्था प्रकृति या गुणसाम्यावस्था कहलाती है। यह साम्यावस्था अनिर्देश्य, स्वगत-भेद-हीन तथा एकरस है और यह जगत् की उपादानभूत शक्ति है और स्रोत के रूप में अवस्थित रहती है। यह साम्यावस्था जगत् की चरम पृष्ठभूमि है। इस अवस्था का कोई उत्पादक कारण नहीं है। चूँकि प्रकृति इस वैचित्र्यपूर्ण जगत् की चरम कारण हैं, इसलिए यह असीम, सर्वव्यापी एवं अनंत है।

पुरुष संयोग से प्रकृति की यह अवस्था क्षुब्ध होती है। प्रकृति अचेतन होने पर भी एक प्रकार की प्रयोजनवत्ता से युक्त रहती है जिसके कारण उसके परिणाम से नाना प्रकार के विकार उत्पन्न होते हैं। पुरुष के भोग-अपवर्ग-रूप साध्य का अज्ञात रूप से साधन करने की प्रवणता ही यह सहज प्रयोजनवत्ता है।

पुरुष

अनुभव के संपूर्ण जगत का वस्तुगत आधार प्रकृति है। अनुभव के साधन, अर्थात इंद्रियाँ, भी प्रकृति के विकार हैं, पर अचेतन वस्तुएँ एंव इंद्रियाँ अनुभव को उत्पन्न नहीं कर सकते। अनुभव से संबंधित परिणामी विषयों का प्रकाशन करने के लिए विषय-इंद्रिय के अतिरिक्त कोई एक शाश्वत चेतन चाहिए। यही कारण है कि सांख्य ने पुरुष के नाम से एक शुद्ध प्रकाशक चैतन्य की सत्ता को माना है। अपने शुद्ध रूप में यह पुरुष के उदासीन, तटस्थ, विवेकी, विषयी, विभु, नित्य, भोक्ता एंव अकर्ता आदि है। प्रकाशात्मक विवेक एवं प्रकाशबहुत तत्वों का स्वामी होने के कारण पुरुष विवेकी है। यहाँ विवेक का अर्थ किसी प्रकार का बौद्धिक चिंतन या भेद की अवधारणा नहीं है। भोक्तृत्व के द्वारा पुरूष की शुद्धता उदासीनता की हानि नहीं होती। पुरुषस्वभाव-रूप जो सवावभासक चैतन्य है, वही भोक्तृत्व का चरम तात्पर्य है।

यह ज्ञातव्य है कि पुरुष एक नहीं है। विभिन्न जीवों के सुखदुःख के अनुभवों में सांख्य वास्तविक भेद मानता है। चूँकि पृथक-पृथक बुद्धियाँ एंव पृथक-पृथक प्रतिबिंब हैं, इसलिए बिंब (अर्थात पुरुष) भी अवश्य बहुसंख्यक होंगे। कार्य पदार्थों में वास्तविक भेद वस्तुतः पृथक कारणों द्वारा उत्पन्न होते हैं। एक-एक बुद्धि से एक-एक पुरुष का संबंध प्रतिबिंब के माध्यम से होता है और इस आपात-प्रतीयमान संयोग के कारण चैतन्ययुक्त बुद्धि का जो भोग होता है, वह अज्ञानवश पुरुष में व्यदिष्ट होता है।

विकास प्रक्रिया

पुरुषार्थ-संयोग के कारण साम्यावस्था गुणों में क्षोभ होता है, जिससे विश्व के उपादानभूत विभिन्न तत्वों की क्रमिक रूप से उत्पत्ति होती है। प्रकृति का यह विकास आंतर और बाह्य व दोनों रूपों से होता है, आंतर विकास बुद्धि-अहंकार-मन तथा दस इंद्रियों की उत्पत्ति के रूप में होता है, जबकि बाह्य विकास पंचतंत्रमात्र एवं पंचभूत के रूप में होता है। दोनों प्रकार के विकास का महत्व है क्योंकि भोग या अनुभव के लिए एक तरफ वस्तुओं की आवश्यकता होती है तो दूसरी तरफ अनुभव के करणों की।

बुद्धि या महत्ततत्व प्रथम विकार है जो वस्तुतः बहुत है। यह कोई एक-व्यक्ति-रूप नहीं हैं बल्कि सर्वव्यापी है। इसमें सभी पुरुषों की बुद्धियाँ रहती हैं। यह बुद्धि स्वभावतः अध्यवसायकारिणी है।

बुद्धि से उत्पन्न होने वाले तत्व का नाम अहंकार है। स्वाग्रह अहंकार का व्यापार है। जब चैतन्ययुक्त बुद्धि में अहंवृत्ति उत्पन्न होती है, तब सुखदुःख का वास्तविक अनुभव होता है। अंहकार के कारण पुरुष भ्रांतिवश अपने पर कर्तृव्य का आरोप करता है।

अहंकार के सात्विक अंश से ग्यारह इंद्रियाँ उत्पन्न होती हैं। तामस अहंकार (भूतादिनामक) से पाँच तन्मात्र उत्पन्न होते हैं। पंचतन्मात्रों से पंचभूत उत्पन्न होते हैं।

स्थूल भूतों का अन्य किसी में परिणाम नहीं होता है। इसलिए सांख्यीय दृष्टि में जगत का विकास भूतों में समाप्त हो जाता है। विकास का तात्पर्य तत्वांतर परिणाम से है। चूँकि स्थूल अणुओं के विकास के बाद यह परिणाम नहीं होता, इसलिए इन अणुओं को ही प्रकृति की विकासधारा के अंतिम स्तर के रूप में माना जाता है।

◆

*अनुवादक : डॉ. राम शंकर भट्टाचार्य, डी-38/8, हौज कटरा, वाराणसी, (म.त. महाकोश की योजना के अंतर्गत)

18

सांख्य में धर्ममीमांसा

*—डॉ. अणिमा सेनगुप्त**

धर्म शब्द कई अर्थों में व्यवहृत हो सकता है – (1) अध्यात्मदर्शन (2) विश्वजनीन प्रेम, (3) ईश्वर के प्रति पूर्ण शरणागति और (4) अनंत जीवन में लीन हो जाना।

यह निश्चित है कि सुव्यवस्थित सांख्यशास्त्र में ईश्वर नामक किसी अलौकिक सत्ता को नहीं माना गया है, तथापि आत्मदर्शन रूप धर्म, विश्वजनीन प्रेम रूप धर्म तथा सृष्टिकर्ता के प्रति भक्तिभाव धर्म का एक महत्वपूर्ण स्थान सांख्यशास्त्र में है।

जहाँ तक आत्मदर्शन का संबंध है, व्यवस्थित सांख्य शास्त्र इस दर्शन की व्यष्टि पुरुष का अंतिम लक्ष्य मानता है। यह भी ज्ञातव्य है कि यद्यपि पुरुषतत्व की सृष्टिकर्ता ईश्वर के रूप में सांख्य में नहीं माना गया, तथापि यह माना जाता है कि चैतन्य (अर्थात् पुरुष) ही प्रकृति को क्षुब्ध करके सृष्टिकार्य के प्रति उसको प्रवर्तित कर देता है। यहाँ पुरुष उस क्रिया को कर रहा है जो अद्वैत वैदांत की दृष्टि में ईश्वर करता है।

अद्वैत वैदांत की दृष्टि में निर्गुण ब्रह्म में सृष्टि की इच्छा नहीं होती, यह इच्छा माया की वृत्ति है। सांख्यीय दृष्टि में भी माना जाता है कि चेतनविशिष्ट प्रकृति में ही सृष्टि करने की इच्छा रहती है। अद्वैत वैदांत में मायोपाधिक ब्रह्म ही ईश्वर है। सांख्य के अनुसार अवच्छेदक रूप समष्टि बुद्धि में प्रतिबिंबित जो चैतन्य है उसकी अद्वैत वेदांत सम्मत ईश्वर के सदृश माना जा सकता है। जिस प्रकार समष्टि बुद्धि ही सामान्य बुद्धि है उसी प्रकार समष्टि बुद्धि में प्रतिबिंबित चैतन्य चैतन्यसामान्य है। चैतन्यसंप्रक्त समष्टि बुद्धि जगद् योनि रूप होती है – यही अद्वैत वेदांत की माया है। चूँकि समष्टि बुद्धि में ईश्वरीय शक्तियाँ रहती हैं, इसलिए इस समष्टिबुद्धि से अवच्छिन्न चैतन्य की उपासना की जा सकती है।

वस्तुतः सांख्यीय साधनमार्ग के प्राथमिक स्तर में साधक को व्यक्तिगत बुद्धि की सीमा का अतिक्रमण करना आवश्यक होता है जिससे समष्टिबुद्धि में पहुँचा जा सके।

इस स्थिति में साधक स्वाभिमान का अतिक्रमण करके सबके साथ ऐक्य का अनुभव करता है। अतः विश्वजनीन प्रेम रूप धर्म तथा मानवों में समता का बोध रूप धर्म, इन दोनों का स्थान सांख्य में है। इस स्थिति में पहुँचा हुआ साधक सूक्ष्म स्वयं को प्रकाशशील सात्विक बुद्धितत्व से पृथक कर अपनी सत्ता का ज्ञान प्राप्त नहीं करता।

जब उपर्युक्त पार्थक्य का ज्ञान हो जाता है तब तत्काल ही प्रकृति पुरुष भेदज्ञान रूप पूर्ण विवेक प्रकट हो जाता है। अतः यह सिद्ध होता है कि जब धर्म का अर्थ 'अनंत जीवन में लय होना' होता है तब द्वैतवादी सांख्यदर्शन में धर्म का कोई स्थान नहीं है। सांख्य का जो शास्त्रीय सुव्यवस्थित रुप है। वह इस अर्थ निरीश्वर है। यह शास्त्र पुरुष के अतिरिक्त किसी अन्य चेतन तत्व की सत्ता को नहीं मानता।

◆

अनुवादक : डॉ० राम शंकर भट्टाचार्य, डी-38/8 हौज कटरा, वाराणसी, (म.त. महायोजना के अंतर्गत)

19

सांख्य में नीतिशास्त्र

*—डॉ. अणिमा सेनगुप्त**

यद्यपि प्राचीन भारत में नीतिशास्त्र का अध्ययन कभी भी पृथक् रूप से नहीं होता था तथापि प्राचीन भारतीय दर्शन में नैतिक पक्ष का महत्वूपर्ण स्थान सदैव था। वस्तुतः दर्शन-शास्त्र का नीतिशास्त्रीय अंश उतना ही प्राचीन है जितना वैदिक मत। अतः ऐतिहासिक दृष्टि के अनुसार विचार करने पर यह सिद्ध होता है कि पाश्चात्य नीतिशास्त्र की अपेक्षा भारतीय नीतिशास्त्र प्राचीन है।

भारतीय नीतिशास्त्र नैतिक समस्याओं का बौद्धिक विवेचनमात्र नहीं करता जैसा कि पाश्चात्य नीतिशास्त्र में देखा जाता है। इसमें संशय नहीं है कि भारतीय नीतिशास्त्र शुभ का विश्लेषण करता है पर इस शास्त्र का मुख्य लक्ष्य है मनुष्य की अपने जीवन में परम कल्याण की उपलब्धि तथा प्राप्ति कराना। जीवात्मा को अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित कराना ही भारतीय नीतिशास्त्र का प्रकृत कार्य है।

अध्यात्मविद्या पर प्रतिष्ठित होना भारतीय नीतिशास्त्र का अपना वैशिष्ट्य है। मनुष्य जीवन का जो वास्तविक रूप है उसकी उपेक्षा नहीं की जाती है पर उसको दिव्य जीवन के अधीनस्थ के रूप में माना जाता है। हम देखते हैं कि सांख्य में भी अध्यात्मविद्या (तत्वज्ञान) को नीतिशास्त्र की आधारशिला माना गया है तथा यह भी माना गया है कि दार्शनिक तत्वविद्या का प्रयोजन ही नैतिक चिंता की प्रसवभूमि हैं। जो सत्य है वह शुभ है, शुभ और सत्य की धारणा को अभिन्न समझना चाहिए, अन्यथा नैतिकता को कभी भी संशयातीत प्रामाण्य नहीं मिल सकता। यदि यह माना जाए कि सामाजिक आवश्यकता से ही नैतिक चिंतन उद्भूत हुआ है तो नैतिकता सापेक्ष एवं परिस्थिति-निर्भर हो जाती है।

प्रकृति-पुरुष के पार्थक्य ज्ञान रूप विवेक से होने वाला अपवर्ग ही परम मंगल है, अतः पाप वह है जो मनुष्य को मुक्ति के मार्ग से दूर रखता हो।

अविवेक का संबंध ज्ञानोत्पत्ति एवं शुभाशुभधारणा दोनों से है। सत्य एवं शुभ के विषय में अज्ञान ही अविवेक है। प्रकृति संभूत क्षेत्र के विकास का हो अवश्यंभावी परिणाम शुभ और अशुभ है क्योंकि ज्ञान-अज्ञान, पाप-पुण्य आदि बुद्धितत्व के अपने धर्म हैं।

जीव की जो बद्धावस्था है उसमें सत्वगुण अभिभूत रहता है इसका फल यह होता है कि सभी नैतिक दुविधाएँ एवं शक्तियाँ जो पाप हैं बलशाली होती हैं और आध्यात्मिक उन्नति में बाधक होती है।

सत्वगुण के नित्यविकासशील प्रभाव के द्वारा नैतिक जीवन की ये सब अशक्तियाँ क्रमशः अभिभूत हो जाती है चूँकि प्रकाशशील सत्व पूर्ण पुरुष के सदृश है इसलिए सत्वगुण की शुद्धि से स्वतः आत्म स्वरूप का साक्षात्कार हो जाता है। यही कारण है कि आत्मसाक्षात्कार रूपी सर्वोच्च लक्ष्य की प्राप्ति के लिए बुद्ध जीव सदैव चेष्टा करते हैं। यह आत्मसाक्षात्कार ही प्रकृति के परिणाम क्रम की अंतिम सीमा है (अर्थात् आत्मा के साक्षात्कार के बाद बुद्धि आदि प्रकृति परिणाम व्यक्त नहीं रहते)।

◆

अनुवादक : डॉ. राम शंकर भट्टाचार्य, डी-38/8 हौज कटरा, वाराणसी, (म.त. महाकोश की योजना के अंतर्गत)

20

ईश्वरमीमांसा

*—आर.वी. डस्मेट**

मूल ग्रीक शब्द 'थिओलॉजिया' का अर्थ था ईश्वरों या ईश्वर के बारे में (थीओस) प्रवचन (लॉजिया)। सामान्यतः यह बहुदेववादी मिथकविद्या का विवरण होता था। 'ईश्वरविषयक दर्शन, जैसे कि अरस्तू की 'मेटाफ़िजिक्स' VI,1 1025-19 या कुछ 'स्टोइकवादियों द्वारा 'ईश्वरविषयक तर्कपूर्ण विवेचन' के अर्थ में तो यह बहुत ही कम प्रयुक्त हुआ। प्राचीन इसाई विचारकों द्वारा 'थिओलॉजिया' शब्द को अपनाने में झिझक महसूस करने का यही कारण था। समय के साथ-साथ ऑरिजेन, युसेबियस, डायोनिशियस ने इसको 'एक सच्चे ईश्वर के सिद्धांत के अर्थ में स्वीकार किया। डायोनिसियस ने इसको दो श्रेणियों में विभक्त किया – एक दार्शनिक तथा दूसरा रहस्यवादी (लैटर 1X)। इसके लिए उन्होंने अनिवार्यतः नेतिवादी (अपवाद-न्याय) प्रणाली को अपनाया। ॲबेलाई के समय से ही 'थिओलॉजिया' शब्द का क्षेत्र 'रव्रीष्टीय श्रुति' परंपरा तक विस्तृत हो गया, यह शब्द विशेष रूप से अक्वाइनस के लेखों में आप्तप्रमाण शास्त्र (श्रुतिशास्त्र, शब्दशास्त्र) का द्योतक बन गया।

ऐसे शास्त्र के विकास की तीन मुख्य अवस्थाएँ होती हैं : (1) श्रुति के तथ्यों का समीक्षात्मक निश्चितिकरण-यह शास्त्रतात्पर्य निरूपण, शास्त्रार्थमीमांसा, रव्रीष्ट धर्म के इतिहास तथा उसके सिद्धांतों के अध्ययन के द्वारा किया जाता है। (2) श्रुति की आप्तप्रमाण्यता व अनुभवातीत गह्यता को कायम रखते हुए उसका तर्कपूर्ण विवेचन जिससे कि उसको एक तर्कसंगत विश्वास के रूप में स्वीकार किया जा सके।

इस अवस्था के निम्न चरण हैं:

स्पष्टीकरण करना, सबंध स्थापित करना, प्रश्न करना, समस्त संभव आपत्तियों का अध्ययन करना, दार्शनिक युक्तियों तथा संबद्ध साम्यानुमानों की सहायता से उनके पक्ष का समर्थन व पुष्टि करना, उनसे निकलने वाले महत्वपूर्ण परिणामों का मूल्यांकन करना एवं उनको व्यवस्थित करना। (3) मनन, प्रार्थना तथा शुद्धामय प्रज्ञाजीवन के अनुरूप चलते हुए सत्य को आत्मसात करना। इसको प्रायः आध्यात्मिक ईश्वरमीमांसा अथवा आध्यात्मिकता कहा जाता है।

इस दिव्यविज्ञानपरक ईश्वरमीमांसा के अतिरिक्त एक शुद्ध दार्शनिक ईश्वरमीमांसा भी है जिसको प्रायः तर्कबुद्धिपरक या प्राकृतिक ईश्वरमीमांसा भी कहते हैं और कभी-कभी 'थिऑडिसी' (अशुभ के प्रश्न के संबंध में लाइपनीत्स द्वारा ईश्वर के पक्ष-समर्थन के लिए प्रयुक्त शब्द) भी कहते हैं। यह एक ऐसा ईश्वरपरक दर्शन है जो मात्र तर्कबुद्धि द्वारा किसी साक्ष्य प्रमाण के स्वतः विकसित किया जा सकता है।

विभिन्न धर्मों में ईश्वरमीमांसा

इस्लाम धर्म में 'कलम' ख्रीष्टीय दिव्यज्ञानपरक ईश्वरमीमांसा से निकटतम साम्य रखता है। यह मुख्यतः ऊपर दी हुई तीन अवस्थाओं में से दूसरी अवस्था से मेल खाता है। इसका मुख्य उद्देश्य निरीश्वरवादियों, प्रतिस्पर्धी धर्मों तथा इस्लाम धर्म की पाखंडी प्रवृत्तियों को दूर कर कुरान मत का समर्थन करता है। अपनी 'मुतअज्जिल' परंपरा के अंतर्गत 'कलम' ने उन इस्लामी दार्शनिकों से बिल्कुल भिन्न मार्ग अपनाया है जिनके बारे में उनको यह शंका थी कि वे निरीश्वरवादी हैं।

हिंदू धर्म में मीमांसा, विशेषकार, उत्तरमीमांसा या वेदांत का, पाश्चात्य ईश्वरमीमांसा से निकट साम्य है। इसकी तीन

अनुवादक : श्रीमती शीला माथुर, पूर्व. स.नि. वै.त.श.आ, (म.त. महाकोश की योजना के अंतर्गत)

22

ईश्वर का स्वरूप

*—आर.वी. डस्मेट**

ईश्वर के स्वरूप से संबंधित हमारा ज्ञान, ईश्वर के अस्तित्वविषयक ज्ञान से निसृत एवं उस पर आधारित है। मानव ने विश्व के परम कारण की खोज के दौरान ईश्वर के विषय में ये धारणाएँ बनाईं :

(क) इस विश्व की व्यवस्था में होने वाले समस्त परिवर्तनों का वह सर्वोच्च नियंता है।

(ख) विश्व में अस्तित्व रखने वाली समस्त वस्तुओं का वह एकमात्र आधार एवं परम सृष्टा है।

(ग) वह अंतर्यामी है और चेतन प्राणियों के क्रिया-कलापों का साक्षी है। तथा

(घ) वह सबका प्रेममय और दयालु रक्षक है।

(क) **विश्व-नियंता:** विश्व-नियंता के रूप में ईश्वर की कई प्रकार से कल्पना की गई है: चिन्मय अग्नि या लॉगॉस (हेरेक्लिटस), बुद्धितत्व या नाउस (एनेक्सेगोरस), भव्य आत्मा (प्लेटो), भौतिक (अग्नि) एवं आध्यात्मिक (लॉगॉस), बीज (स्पर्मा) तथा नियति या विधाता (स्टोइक), सर्वशक्तिमान नियम या ताओ (चीनी मत), परम सर्वज्ञ चैतन्य (औपनिषदिक विज्ञान), ईश्वर (न्याय-वैशेषिक तथा मध्व), सर्वोच्च विधिकर्ता (कांट), तथा शाश्वत स्वयंसिद्ध तत्व (तेन)। इस विचारधारा के अनुसार ईश्वर का सारगुण परम चैतन्य अथवा चित् है।

(ख) **विश्व-सृष्टा:** विश्व-सृष्टा के रूप में ईश्वर की यह कल्पना की गई है: सुकरातपूर्व दार्शनिकों और उपनिषदों ने उसे मूलभूत भौतिक तत्व माना है। रामानुज और अधिकांश सर्वेश्वरवादियों ने उसे शरीर तत्व से युक्त चैतन्य माना है जो स्वपरिणामी अर्थात् स्वयं को विभिन्न पदार्थों में रूपांतरित करने में सक्षम है। स्पिनोज़ा ने उसे एक अद्भुत तत्व, उपनिषद और शंकराचार्य ने परम सत्य (सत्यम) या ब्रह्मात्मा – जो विश्व का अपरिवर्त्य उपादान और निमित्त कारण है। अरस्तू, एल्बर्टस मैगनस, ब्लैडेल, लावेल ने इसे शुद्ध क्रिया, टॉमस अक्वाइनस ने भाव की शुद्ध क्रिया या स्ववर्ती अस्तित्व, इब्न सीना ने एक अनिवार्य सत्ता और प्लेटो और प्लॉटिनस ने समस्त सहभागिता के उद्गम स्रोत के रूप में माना है। यह विचार प्रवृति ईश्वर के सारगुण को शुद्ध भाव के रूप में स्वीकार करती है।

दिव्य आंतरिक नियंता

आंतर-नियंता की दृष्टि से उसकी निम्न रूपों में कल्पना की गई हैं : उपनिषदों व वेदांत में परम पुरुष या आत्मन के रूप में, मध्य के उपनिषदों व वेदांत में उस मार्गदर्शक के रूप में, जो चौथी या तुरीयावस्था है। परवर्ती उपनिषदों, शैवमत तथा परवर्ती वेदांत में जीवात्माओं के अंतरस्थ नियंता (ईश), साक्षी व ज्ञाता के रूप में, बाइबिल में दिव्य लॉगोस के रूप में, ऑगस्टीन और बोनाव्हेंचर द्वारा शाश्वत सत्य तथा अंतस्थ गुरु के और हार्टमैन द्वारा हमारे गहनतम अचेतन के रूप में। इस विचारधारा की प्रवृत्ति ईश्वर के सारगुण को सत्चित् या दिव्य प्रकाश मानने की है।

(घ) **दयालु रक्षक:** इस दृष्टि से ईश्वर की कई रूपों में कल्पना की गई है: परवर्ती उपनिषदों, न्याय-वैशेषिक तथा भक्तिमार्गियों ने ईश्वर को कर्म और मोक्ष का नियंता माना है, उपनिषदों और ईसाई धर्म ने उसको दिव्य आनंद कहा है, भगवद्गीता और भक्ति साहित्य ने उसको आनंदमय भगवान् कहा है जो स्वयं को अवतारों, दिव्य कृपा तथा प्रीतिमय भक्ति में व्यक्त करता है, शैव: सिद्धांत के अनुसार वह जीवात्माओं को सब

अनुवादक : श्रीमती शीला माथुर, पूर्व. स.नि. वै.त.श.आ, (म.त. महाकोश की योजना के अंतर्गत)

23

परमानंद

—आर.वी. डस्मेट*

आनंद कल्याण की वह सर्वोच्च स्थिति मानी गई है जिसमें नकारात्मक रूप में, समस्त दुखों और साथ ही क्षणिक सुखों से सदा के लिए मुक्ति मिल जाती है। सकारात्मक रूप में परमानंद वह स्थिति है जिसमें समस्त मानवीय आवश्यकताएँ और आकांक्षाएँ या तो पूर्णतः वश में हो जाती हैं या फिर उनकी पूर्ण-रूपेण तुष्टि हो चुकी होती है। उपनिषदों में परमानंद को नकारात्मक रूप में मोक्ष, कैवल्य, निर्वाण, अतिमुक्ति, अपवर्ग, अभय कहा गया है और उसको मृत्यु, देह, जन्म, इच्छा, पाप, अनिष्ट दुख, शुभाशुभ, अवास्तविकता व सब प्रकार की आसक्तियों तथा बंधनों से मुक्त माना गया है। सकारात्मक रूप में परमानंद निःश्रेयस, स्वाप्ति, सर्वज्ञान, पराविद्या, आत्मविद्या, ब्रह्मविद्या, ब्रह्मलोक, परमगति, परमसंपत, अक्षर, साम्य, स्वातंत्र्य, स्वाराज्य, श्रेष्ट्य, आधिपत्य, सायुज्य, परामृत आदि कहा गया है। यह अनुभव के रूप में पूर्णत्व की प्रत्यक्ष प्राप्ति है जो चेतना की चौथी (तुरीय) संभव अवस्था है।

विभिन्न संप्रदाय और दार्शनिक विचारधाराएँ इसकी सटीक किंतु अक्सर संकीर्ण धारणाएँ प्रस्तुत करते हैं। बौद्ध धर्म के अनुसार यह पूर्णतया नकारात्मक मुक्ति है। जैन धर्म के अनुसार यह ईश्वर-सदृश, किंतु ईश्वर-रहित सर्वज्ञता है। पूर्वमीमांसा के अनुसार यह केवल पुनर्जन्म की समाप्ति है। वैशषिक न्याय ने इसे आत्मा की वह अपरिवर्तनीय अवस्थिति माना है जिसमें उसने अपने सब गुणों, यहाँ तक कि ज्ञान का भी परित्याग कर दिया है। सांख्य-योग के अनुसार परमानंद, पुरुष का प्रकृति व उसके समस्त परिवर्तनों से पूर्ण व अंतिम पृथकत्व है जिससे कि पुरुष किसी भी चीज से उद्विग्न हुए बिना शुद्ध चेतना के रूप में रह सकता है। शंकराचार्य के अनुसार यह सच्चिदानंद के पूर्णत्व में लीन हो जाना है जिसमें ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान का भेद पूर्णतया लुप्त हो जाता है और इस तरह सब प्रकार के भ्रामक ज्ञान का भी विनाश हो जाता है।

रामानुज के अनुसार परमानंद भक्ति, ज्ञान तथा भगवत् कृपा से प्राप्त उस एकमात्र सर्वगुणसंपन्न ईश्वर व उसकी विभूतियों को और इस तथ्य का साक्षात् ज्ञान है कि मैं स्वयं और यह जगत् ईश्वर के पर्याय रूप हैं। वल्लभ ने इसको भगवान् के साथ उसके पूर्णतया प्रकट पुरुषोत्तम रूप से सायुज्य माना है, जिसकी प्राप्ति उसकी कृपा से ही होती है और जिसमें आत्मा अलौकिक आनंद शरीर धारण कर भगवद्लीला में निमग्न होकर अपूर्व आनंद प्राप्त करता है। निंबार्क के अनुसार परमानंद आत्मा की अपने सत्स्वरूप की प्राप्ति और विष्णु लोक में प्रविष्टि है जहाँ विष्णु से साम्मुख्य होने पर वह उनके गुणों एवं विभूतियों का मनन करके अपने और उनके मध्य भेदाभेद को समझता है। यही मुक्ति है जो मृत्योपरांत मिलती है और कर्मयोग, ज्ञान, भक्ति एवं प्रपत्ति सोपानों का चरमोत्कर्ष है। ये सोपान दिव्य अनुग्रह के कार्य एवं कारण हेतु दोनों ही हैं।

भास्कर के अनुसार परमानंद आत्मा की समस्त उपाधियों से मुक्ति और ब्रह्मात्मा से, उसकी अवियोज्य शक्तियों में से एक के रूप में, अभिन्नता की प्राप्ति है, जिससे कि वह दिव्य ज्ञान, दिव्यानंद और सर्वशक्तिमत्ता के सुखों को भोगता है किंतु ऐसा केवल निःस्वार्थ कर्म व भक्ति ज्ञान के माध्यम से मृत्योपरांत ही संभव होता है। मध्व के अनुसार परमानंद केवल उन जीवात्माओं मुक्ति से संबंधित स्थिति है जो अपने अविकारी स्वरूप के कारण आनंद के योग्य हैं (अयोग्य आत्माओं को छोड़कर) इनमें से प्रत्येक के लिए आनंद वह स्थिति है जिसमें उनको अपने निजस्वरूप की प्राप्ति हो जाती है, जो ईश्वर व अन्य जीवात्माओं से भिन्न हैं, और जिससे वह सच्चिदानंद शरीर धारण करके विष्णु की शाश्वत लीला में अपनी सत्यनिष्ठ अर्धांगिनी को साथ भाग ले सकता है।

विज्ञानभिक्षु के अनुसार परमानंद आत्मा का शुद्ध अभिज्ञा के रूप में अपने सत्स्वरूप को प्राप्त करना और शुद्ध अभिज्ञा के रूप में ही ब्रह्म में लीन हो जाना है तथा इस तरह सब प्रकार के संज्ञान और अनुभव से रहित हो सांख्य-योग के संज्ञाहीन कैवल्य के समरूप हो जाना है।

मुक्ति के साधनों के संबंध में संप्रदायों के अलग-अलग मत हैं। शंकराचार्य से पहले के संप्रदायों के अनुसार केवल ज्ञान ही मुक्ति का साधन है किंतु बाद के संप्रदायों ने इसमें कर्मयोग और भक्ति को और जोड़ दिया और ईश्वरीय अनुग्रह की अनिवार्यता पर बल दिया। निंबार्क ओर भास्कर को छोड़कर अन्य सभी वेदांतानुयायी मृत्यु से पहले भी मुक्ति की संभावना को स्वीकार करते हैं (जीवनमुक्ति) कुरान के स्वर्ग और पुनरुज्जीवन से संबंधित उपदेशों को सूफियों ने, मानव की ही नहीं, बल्कि उसकी संपूर्ण अहंकेंद्रिकता एवं अस्तित्व (बका) के विनाश (फ़ना) के रूप में और मानव का ईश्वर के क्रियाकलापों या गुणों, यहाँ तक कि ईश्वर के सार से सायुज्य की स्थिति में रहने के रूप में लिया है। बाइबिल द्वारा स्वर्ग और पुनरुज्जीवन संबंधी उपदेशों को अधिकतर ईसाई धर्मशास्त्रियों ने दिव्य दर्शन के रूप में लिया है। यह तो दिव्य तत्व की और से आत्मा को मिली एक भेंट है जिसके द्वारा आत्मा मृत्यु (और संपूर्ण मानव के पुनरुज्जीवन के उपरांत) के पश्चात् दिव्य चेतना में, प्रेमभावना, पूर्ण आनंद तथा पूर्णभाव का सहभागी बन जाता है। अतः यह आत्मा का अपने प्राकृतिक दिव्य स्वरूप की फिर से प्राप्त करना नहीं बल्कि देवत्व की प्राप्ति होना है, जो दिव्य प्रेम का एक अनुपम उपहार है।

पाश्चात्य दर्शन में परमानंद के संदर्भ में दी गई अन्य धारणाएँ इस प्रकार हैं:

प्लेटो, अरस्तू और प्लॉटिनस के अनुसार ईश्वर का ध्यान और उससे आत्मासात्करण करना, सुखवादियों के अनुसार इंद्रियसुख, स्टोइकवादियों और कांट के अनुसार सद्गुणों का पूर्ण अनुसरण, निराशावादियों के अनुसार आत्म-अभिज्ञता के लुप्त होने से दुखों से मुक्ति की स्थिति, शिलरमेकरवुंट के अनुसार मानव संस्कृति की उन्नति में योगदान देने वाला और मार्क्सवादियों के अनुसार मानव-समुदाय की सामूहिक भौतिक समृद्धि में योगदान देने वाला है।

ग्रंथ सूची

डॅडॉय, जी. "ब्यूटिफिक विह्जन इन कैथॉलिसिज़्म एंड मुक्ति इन हिंदुइज्म" इन दी लाइट ऑफ दी ईस्ट, खंड 9-14 (1930-1936) 30, पार्क स्ट्रीट कलकत्ता।

शीबेन, एम.जे. दी मिस्ट्रीज ऑफ क्रिश्चियेनिटि, अनु. सी. व्हॉलर्ट, न्यूयॉर्क, हर्डर (1946)

◆

अनुवादक : श्रीमती शीला माथुर, पूर्व. स.नि. वै.त.श.आ, (म.त. महाकोश योजना के अंतर्गत)

विविध स्तंभ

शब्द-भंडार

कम्प्यूटर विज्ञान की मूलभूत शब्दावली

abacus	एबेकस, गिनतारा
abnormal termination	अपसामान्य समापन
abort	विफलन
absolute address	निरपेक्ष पता
absolute coordinate	निरपेक्ष निर्देशांक
absolute error	निरपेक्ष त्रुटि
absolute value	निरपेक्ष मान
abstract	1. सारांश 2. अमूर्त
acceptance test	स्वीकरण परीक्षण
access	अभिगम
access mode	अभिगम विधा
access right	अभिगम अधिकार
access time	अभिगम काल
accumulator register	संचायक पंजी
acoustic coupler	ध्वनिक युग्मक
action cycle	क्रिया चक्र
action line	क्रिया लाइन
activation	सक्रियण
active file	सक्रिय संचिका
active link	सक्रिय कड़ी
active master file	सक्रिय प्रधान संचिका
active storage	सक्रिय भंडारण
activity ratio	सक्रियता अनुपात
actual address (absolute address)	निरपेक्ष पता
actual data transfer rate	वास्तविक आंकडा स्थानांतरण दर
actual instruction (effective instruction)	प्रभावी अनुदेश
actual key	वास्तविक कुंजी

addend	योज्य
adder	योजक
address	पता
addressable point	पतायोग्य बिंदु
addressable position	पतायोग्य स्थिति
addressable storage	पतायोग्य भंडारण
address bus	पता बस
address code	पता कूट
address conversion	पता रूपांतरण
address data	पता आंकड़े
address format	पता संरूप
addressing	पताभिगमन
addressing character	पताभिगमन संप्रतीक
address interlacing	पता अंतर्ग्रथन
addressless instruction format	पतारहित अनुदेश संरूप
address mapping	पता प्रतिचित्रण
address pointer	पता संकेतक
address register	पता पंजी
address space	पता स्थान
address track	पता मार्ग
administrative data processing	प्रशासनिक आंकड़ा संसाधन
advanced communication service	उन्नत संचार सेवा
advanced information system	उन्नत सूचना तंत्र
advanced optical character reader	उन्नत प्रकाशित संप्रतीक पठित्र
advanced scientific computer	उन्नत वैज्ञानिक अभिकलित्र
aiming circle	संधानित्र
algebraic manipulation	बीजीय प्रकलन
algebraic manipulation language	बीजीय प्रकलन भाषा
algebraic sign convention	बीजीय चिह्न परिपाटी
Algol	ऐल्गॉल
Algol programming	ऐल्गॉल क्रमादेशन

algorithm	कलन विधि, एल्गोरिथ्म
algorithm complexity	कलन विधि जटिलता
algorithm analysis	कलन विधि विश्लेषण
algorithmic approach	कलनविधीय उपगमन
alignment	संरेखण
allocate	नियतन
all-purpose computer	सर्वोददेशीय अभिकलित्र
alphabetic character set	अक्षरात्मक संप्रतीक समुच्चय
alphabetic string	अक्षरात्मक रज्जु
alphanumeric	अक्षरांकीय
alphanumerical keyboard device	अक्षरांकीय कुंजीपटल युक्ति
alphanumeric character set	अक्षरांकीय संप्रतीक समुच्चय
alphanumeric display device	अक्षरांकीय प्रदर्श युक्ति
alphanumeric instruction	अक्षरांकीय अनुदेश
alphanumeric keyboard	अक्षरांकीय कुंजी पटल
alterable memory	परिवर्तनीय स्मृति
alternate route	वैकल्पिक मार्ग
ambiguous reference	संदिग्ध संदर्भ
analog	अनुरूप
analog computer	अनुरूप अभिकलित्र
analog converter	अनुरूप परिवर्तक
analog function generator	अनुरूप फलन जनक
analog programming	अनुरूप क्रमादेशन
analog signal	अनुरूप संकेत
analog switch	अनुरूप स्विच
analog to digital converter	अनुरूप अंकीय परिवर्तक
analog transmission	अनुरूप संचरण
analytical engine	वैश्लेषिक इंजन
AND	तथा
AND gate	तथा द्वार
AND operation	तथा संक्रिया

answering time	उत्तर काल
anticipatory buffering	प्रत्याशामूलक चयनक
anticipatory carry	प्रत्याशामूलक हासिल
anticipatory paging	प्रत्याशामूलक पृष्ठन
aperiodic antenna	अनावर्ती ऐंटेना
aperture time	द्वारक काल
application developer	अनुप्रयोग विकासक
application layer	अनुप्रयोग स्तर
application oriented language	अनुप्रयोग मूलक भाषा
application package	अनुप्रयोग (क्रमादेश) संकुल
application program	अनुप्रयोग क्रमादेश
application software	अनुप्रयोग प्रक्रिया सामग्री
arbitrary access	स्वेच्छ अभिगम
architecture	वास्तुकला, स्थापत्यकला
archiving	पुराभंडारण
area search	क्षेत्र खोज
argument	स्वतंत्र चर
argument address	स्वतंत्र चर पता
argument list	स्वतंत्र चर सूची
arithmetical instruction	अंकगणितीय अनुदेश
arithmetic and logic unit	अंकगणितीय एवं तर्क एकक
arithmetic assignment statement	अंकगणितीय नियतन कथन
arithmetic constant	अंकगणितीय अचर
arithmetic exception	अंकगणितीय अपवाद
arithmetic expression	अंकगणितीय व्यंजक
arithmetic hierarchy	अंकगणितीय पदानुक्रम
arithmetic IF statement	अंकगणितीय यदि कथन
arithmetic logic unit	अंकगणितीय तर्क एकक
arithmetic operation	अंकगणितीय संक्रिया
arithmetic overflow	अंकगणितीय अधिप्रवाह
arithematic register	अंकगणितीय पंजी

arithmetic relation	अंकगणितीय संबंध
arithmetic statement	अंकगणितीय कथन
arithmetic underflow	अंकगणितीय अधोप्रवाह
arithmetic unit	अंकीय एकक
array	सरणी
array computer	सरणी अभिकलित्र
array dimension	सरणी विमा
array element	सरणी अवयव
array name	सरणी नाम
array processing	सरणी संसाधन
array processor	सरणी संसाधित्र
artificial intelligence	कृत्रिम बुद्धि
artificial language	कृत्रिम भाषा
ascending sort	आरोही छंटाई
ASCII	आस्की
ASCII control character	आस्की नियंत्रण संप्रतीक
ASCII key board	आस्की कुंजी पटल
aspect	अभिमुखता
aspect ratio	अभिमुखता अनुपात
assembler	कोडांतरक
assembler language	कोडांतरक भाषा
assembly	कोडांतरण
assembly language	कोडांतरण भाषा
assembly language software flexibility	कोडांतरण भाषा प्रक्रिया–सामग्री नम्यता
assignment operation	नियतन संक्रिया
assignment statement	नियतन कथन
associative address	साहचर्य पता
associative memory	साहचर्य स्मृति
associative storage	साहचर्य भंडारण
asymmetric device	असममित युक्ति
asynchronous	अतुल्यकालिक, अतुल्यकाली

आयोग के प्रकाशन

आयोग द्वारा प्रकाशित शब्द-संग्रह एवं शब्दावलियाँ

क्र.सं.	शब्द-संग्रह	मूल्य
1.	बृहत् पारिभाषिक शब्द-संग्रह : विज्ञान, खंड 1, 2	174.00
2.	बृहत् पारिभाषिक शब्द-संग्रह : विज्ञान, खंड 1, 2	150.00
3.	बृहत् पारिभाषिक शब्द-संग्रह : विज्ञान (हिंदी-अंग्रेजी) द्वितीय संस्करण	236.00
4.	बृहत् पारिभाषिक शब्द-संग्रह : मानविकी और सामाजिक विज्ञान खंड 1, 2	292.00
5.	बृहत् पारिभाषिक शब्द-संग्रह : मानविकी और सामाजिक विज्ञान (हिंदी-अंग्रेजी)	350.00
6.	बृहत् पारिभाषिक शब्द-संग्रह : कृषि विज्ञान	278.00
7.	बृहत् पारिभाषिक शब्द-संग्रह : आयुर्विज्ञान, शारीरिक भेषजविज्ञान, नृविज्ञान	239.40
8.	बृहत् पारिभाषिक शब्द-संग्रह : आयुर्विज्ञान, कृषि एवं इंजीनियरी (हिंदी-अंग्रेजी)	48.50
9.	बृहत् पारिभाषिक शब्द-संग्रह : मुद्रण इंजीनियरी	48.00
10.	बृहत् पारिभाषिक शब्द-संग्रह : इंजीनियरी (सिविल, विद्युत, यांत्रिक)	340.00
11.	बृहत् पारिभाषिक शब्द-संग्रह : पशु चिकित्सा विज्ञान	82.00
12.	भौतिकी शब्द-संग्रह	119.00
13.	गृहविज्ञान शब्द-संग्रह	60.00
14.	कंप्यूटर विज्ञान शब्दावली	57.00
15.	इस्पात एवं अलोह धातुकर्म शब्दावली	55.00
16.	वाणिज्य शब्दावली	259.00
17.	समेकित रक्षा शब्दावली	284.00
18.	अंतरिक्ष विज्ञान शब्दावली	45.00
19.	गुणता नियंत्रण शब्दावली	45.00
20.	भाषा विज्ञान शब्दावली (अंग्रेजी-हिंदी तथा हिंदी-अंग्रेजी)	113.00
21.	कोशिका तथा अणुजैविकी शब्द संग्रह	348.00
22.	लोक-प्रशासन शब्दावली	52.00
23.	गणित शब्द संग्रह	143.00
24.	भूगोल शब्द संग्रह	200.00
25.	भूविज्ञान शब्द संग्रह	88.00

26.	संरचनात्मक भूविज्ञान एवं विवर्तनिकी शब्द संग्रह	15.00
27.	रेशम विज्ञान शब्द संग्रह	50.00
28.	खनन एवं भूविज्ञान शब्द संग्रह	32.00
29.	रासायनिक इंजीनियरी शब्द संग्रह	51.00
30.	कोशिका-जैविकी शब्द संग्रह	62.00
31.	पत्रकारिता एवं मुद्रण शब्दावली	12.25
32.	वनस्पति विज्ञान शब्द संग्रह	86.00
33.	पूंजी बाजार एवं संबद्ध शब्दावली	79.00
34.	प्राकृतिक विपदा शब्दावली	17.00
35.	मनोविज्ञान शब्दावली	247.00
36.	सामान्य भू-विज्ञान शब्दावली	101.00
37.	इस्पात परिचय	146.00
38.	बृहत् पारिभाषिक शब्द-संग्रह प्राणि विज्ञान	311.00
39.	आर्थिक भू-विज्ञान शब्दावली	75.00
40.	भू-भौतिकी शब्दावली	67.00
41.	शैलविज्ञान शब्दावली	82.00
42.	खनिज विज्ञान शब्दावली	130.00
43.	अनुप्रयुक्त भू-विज्ञान शब्दावली	115.00
44.	जलवायु विज्ञान शब्दावली	131.00
45.	संरचनात्मक भू-विज्ञान शब्दावली	73.00
46.	आयुर्विज्ञान के सामान्य शब्द एवं वाक्यांश शब्दावली (अंग्रेजी-तमिल-हिंदी)	279.00
47.	भौतिक विज्ञान शब्दावली (अंग्रेजी-उड़िया)	203.00
48.	आयुर्विज्ञान शब्दावली (अंग्रेजी-उड़िया)	450.00
49.	राजनीति विज्ञान शब्दावली (अंग्रेजी-उड़िया)	186.00
50.	इतिहास शब्दावली (अंग्रेजी-उड़िया)	404.00
51.	गणित शब्दावली (अंग्रेजी-उड़िया)	189.00
52.	प्राणि-विज्ञान शब्दावली (अंग्रेजी-उड़िया)	208.00
53.	वाणिज्य विज्ञान शब्दावली (अंग्रेजी-उड़िया)	162.00
54.	मनोविज्ञान शब्द संग्रह (अंग्रेजी-उड़िया)	108.00
55.	अर्थशास्त्र शब्दावली (अंग्रेजी-उड़िया)	183.00
56.	रसायन शब्दावली (अंग्रेजी-उड़िया)	137.00
57.	शिक्षा विज्ञान शब्दावली (अंग्रेजी-उड़िया)	137.00

58.	वनस्पति शब्दावली (अंग्रेजी-उड़िया)	208.00
59.	प्रशासनिक शब्दावली (अंग्रेजी-उड़िया)	390.00
60.	मनोविज्ञान शब्दावली (अंग्रेजी-उड़िया)	108.00
61.	दर्शनशास्त्र विज्ञान शब्दावली (अंग्रेजी-उड़िया)	61.00
62.	भूगोल शब्द संग्रह (अंग्रेजी-बोड़ो)	515.00
63.	अर्थशास्त्र शब्द संग्रह (अंग्रेजी-बोड़ो)	185.00
64.	भू-विज्ञान शब्द संग्रह (अंग्रेजी-बोड़ो)	306.00
65.	शिक्षा शब्द संग्रह (अंग्रेजी-बोड़ो)	97.00
66.	समाज शास्त्र शब्द संग्रह (अंग्रेजी-बोड़ो)	118.00
67.	राजनीति विज्ञान शब्द संग्रह (अंग्रेजी-बोड़ो)	211.00
68.	पुरात्व विज्ञान शब्द संग्रह (अंग्रेजी-बोड़ो)	157.00
69.	जीवाश्म विज्ञान शब्दावली	129.00

आयोग द्वारा प्रकाशित परिभाषा-कोश

क्र.सं.	परिभाषा-कोश	मूल्य
1.	भूविज्ञान परिभाषा-कोश	63.00
2.	संरचनात्मक भूविज्ञान परिभाषा-कोश	13.50
3.	शैलविज्ञान परिभाषा-कोश	153.00
4.	उच्चतर रसायन परिभाषा-कोश	17.00
5.	धातुकर्म परिभाषा-कोश	278.00
6.	रसायन (कार्बनिक) परिभाषा-कोश-3	25.00
7.	पेट्रोलियम प्रौद्योगिकी परिभाषा-कोश	173.00
8.	प्राणिविज्ञान परिभाषा-कोश (द्वितीय संस्करण : संशोधित एवं परिवर्धित)	216.00
9.	पुरावनस्पतिविज्ञान परिभाषा-कोश	80.50
10.	भूगोल परिभाषा-कोश	18.00
11.	मानव-भूगोल परिभाषा-कोश	18.00
12.	मानचित्र-विज्ञान परिभाषा-कोश	231.00
13.	इलेक्ट्रॉनिकी परिभाषा-कोश	22.00
14.	तरल यांत्रिकी परिभाषा-कोश	10.00
15.	विद्युत इंजीनियरी परिभाषा-कोश	81.00
16.	यांत्रिक इंजीनियरी परिभाषा-कोश (संशोधित)	94.00
17.	सिविल इंजीनियरी परिभाषा-कोश	61.00

18.	इतिहास परिभाषा-कोश	20.50
19.	शिक्षा परिभाषा-कोश-I	13.50
20.	गणित परिभाषा-कोश	203.00
21.	सांख्यिकी परिभाषा-कोश	18.00
22.	वनस्पतिविज्ञान परिभाषा-कोश (संशोधित एवं परिवर्धित संस्करण)	75.00
23.	शिक्षा परिभाषा-कोश	99.00
24.	आयुर्विज्ञान परिभाषा-कोश (शल्य विज्ञान)	48.05
25.	मनोविज्ञान परिभाषा-कोश	9.50
26.	दर्शन परिभाषा-कोश	198.00
27.	अर्थशास्त्र परिभाषा-कोश	117.00
28.	अर्थमिति परिभाषा-कोश	17.65
29.	वाणिज्य परिभाषा-कोश	24.70
30.	समाजकार्य परिभाषा-कोश	16.25
31.	समाजशास्त्र परिभाषा-कोश	71.40
32.	सांस्कृतिक नृविज्ञान परिभाषा-कोश	24.00
33.	पुस्तकालय विज्ञान परिभाषा-कोश	49.00
34.	पत्रकारिता परिभाषा-कोश	87.50
35.	पुरातत्व परिभाषा-कोश	509.00
36.	पाश्चात्य संगीत परिभाषा-कोश	28.55
37.	भाषाविज्ञान परिभाषा-कोश खंड-1	89.00
38.	कंप्यूटर-विज्ञान परिभाषा-कोश	102.00
39.	राजनीतिविज्ञान परिभाषा-कोश	343.00
40.	प्रबंधविज्ञान परिभाषा-कोश	170.00
41.	मृदा विज्ञान परिभाषा-कोश	77.00
42.	अंतर्राष्ट्रीय विधि परिभाषा-कोश	344.00
43.	कृषि कीटविज्ञान परिभाषा-कोश	75.00
44.	वनस्पति विज्ञान परिभाषा-कोश	75.00
45.	पादप आनुवंशिकी परिभाषा-कोश	75.00
46.	भाषाविज्ञान परिभाषा-कोश खंड-2	59.00
47.	सूक्ष्म जैविकी परिभाषा-कोश	45.00
48.	पादप रोग विज्ञान परिभाषा-कोश	75.00
49.	भारतीय दर्शन परिभाषा-कोश खंड-1	151.00
50.	भारतीय दर्शन परिभाषा-कोश खंड-2	124.00
51.	भारतीय दर्शन परिभाषा-कोश खंड-3	136.00
52.	सूत्रकृमि विज्ञान परिभाषा कोश	125.00
53.	कोशिका जैविकी परिभाषा कोश	121.00
54.	भौतिकी परिभाषा-कोश	700.00

आयोग द्वारा अन्य प्रकाशन

पाठमालाएं, मोनोग्राफ इत्यादि

क्र.सं.		मूल्य
1.	ऐतिहासिक नगर	195.00
2.	प्राकृतिक एवं सांस्कृतिक नगर	109.00
3.	समुद्री यात्राएँ	79.00
4.	विश्व दर्शन	53.00
5.	अपशिष्ट प्रबंधन	17.00
6.	कोयला : एक परिचय	294.00
7.	रत्न-विज्ञान – एक परिचय	115.00
8.	वाहित मल एवं आपंक : उपयोग एवं प्रबंधन	40.00
9.	पर्यावरणीय प्रदूषण : नियंत्रण तथा प्रबंधन	23.50
10.	भारत में भैंस उत्पादन एवं प्रबंधन	540.00
11.	भारत में ऊसर भूमि एवं फसलोत्पादन	559.00
12.	2-दूरीक एवं 2-मानकित समष्टियों में संपात एवं स्थिर बिंदु समीकरणों के साधन	68.00
13.	भारत में प्याज एवं लहसुन की खेती	82.00
14.	पशुओं से मनुष्यों में होने वाले रोग	60.00
15.	ठोस पदार्थ यांत्रिकी	995.00
16.	वैज्ञानिकी शब्दावली अनुवाद एवं मौलिक लेखन	34.00
17.	मृदा उर्वरता	410.00
18.	ऊर्जा संसाधन और संरक्षण	105.00
19.	पशुओं के कवकीय रोग, उनका उपचार एवं नियंत्रण	93.00
20.	पराज्यामितीय फलन (गणित पाठमाला-2)	90.00
21.	सामाजिक एवं प्रक्षेत्र वानिकी	54.00
22.	विश्व के प्रमुख धर्म (दर्शन पाठमाला-1)	118.00
23.	सैन्य विज्ञान पाठ संग्रह	100.00
24.	सूक्ष्म तरंग इंजीनियरी	470.00
25.	लैटर प्रैस मुद्रण	270.00

26.	लोहीय तथा अलोहीय धातु	68.00
27.	बाल मनोविकास पाठमाला-3	58.00
28.	समकालीन भारतीय दर्शन के कुछ मानववादी चिंतक: तुलनात्मक एवं समीक्षात्मक अध्ययन	153.00
29.	स्वतंत्रता-पूर्व हिंदी में विज्ञान लेखन, विज्ञान पाठमाला-3	176.00
30.	भेड बकरियों के रोग एवं उनका नियंत्रण	343.00
31.	भविष्य की आशा - हिंद महासागर	154.00
32.	भारत में ऊसर भूमि एवं फसलोत्पादन	559.00
33.	भारतीय कृषि का विकास	155.00
34.	विकास मनोविज्ञान भाग-1	40.00
35.	विकास मनोविज्ञान भाग-2	30.00
36.	कृषिजन्य दुर्घटनाएँ	25.00
37.	इलेक्ट्रॉनिक मापन	31.00
38.	वनस्पति विज्ञान पाठमाला-3	16.00
39.	इस्पात – एक परिचय	146.00
40.	जैव-प्रौद्योगिकी – उद्भव एवं विकास	134.00
41.	विश्व के प्रमुख दार्शनिक	433.00

आयोग के नि:शुल्क प्रकाशन

(क) मूलभूत शब्दावलियां

क्र.सं.	शब्दावली का नाम
1.	गणित की मूलभूत शब्दावली
2.	कंप्यूटरविज्ञान की मूलभूत शब्दावली
3.	भूविज्ञान की मूलभूत शब्दावली
4.	भूगोल की मूलभूत शब्दावली
5.	भौतिकी की मूलभूत शब्दावली
6.	कोयला उद्योग की मूलभूत शब्दावली
7.	पशुचिकित्सा विज्ञान की मूलभूत शब्दावली
8.	कृषिविज्ञान की मूलभूत शब्दावली
9.	वनस्पतिविज्ञान की मूलभूत शब्दावली
10.	अर्थशास्त्र की मूलभूत शब्दावली
11.	मनोविज्ञान की मूलभूत शब्दावली
12.	यांत्रिक इंजीनियरी की मूलभूत शब्दावली
13.	दूरसंचार की की मूलभूत शब्दावली
14.	पुरातत्व और वास्तुकला की मूलभूत शब्दावली
15.	पर्यावरण इंजीनियरी की मूलभूत शब्दावली

(ख) अखिल भारतीय शब्दावलियां

1. अखिल भारतीय शब्दावली : अर्थशास्त्र और वाणिज्य
2. अखिल भारतीय शब्दावली : आयुर्विज्ञान (शल्य)
3. अखिल भारतीय शब्दावली : खगोलिकी
4. अखिल भारतीय शब्दावली : गणित
5. अखिल भारतीय शब्दावली : जीवविज्ञान
6. अखिल भारतीय शब्दावली : प्राणिविज्ञान
7. अखिल भारतीय शब्दावली : वनस्पतिविज्ञान
8. अखिल भारतीय शब्दावली : भूगोल

क्र.सं.	शब्दावली का नाम
9.	अखिल भारतीय शब्दावली : भौतिकी
10.	अखिल भारतीय शब्दावली : भूविज्ञान
11.	अखिल भारतीय शब्दावली : सांख्यिकी
12.	अखिल भारतीय शब्दावली : सिविल इंजीनियरी
13.	अखिल भारतीय शब्दावली : मानव भूगोल
14.	अखिल भारतीय शब्दावली : समुद्रविज्ञान
15.	अखिल भारतीय शब्दावली : भाषाविज्ञान
16.	अखिल भारतीय शब्दावली : शिक्षा, मनोविज्ञान तथा मनोरोगविज्ञान
17.	अखिल भारतीय शब्दावली : समाजविज्ञान एवं सांस्कृतिक नृ-विज्ञान
18.	अखिल भारतीय शब्दावली : प्रायोगिकभूगोल
19.	अखिल भारतीय शब्दावली : रसायनविज्ञान

(ग) अन्य प्रकाशन

1. बृहत् प्रशासन शब्दावली (अंग्रेजी-हिंदी)
2. बृहत् प्रशासन शब्दावली (हिंदी-अंग्रेजी)
3. वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली आयोग – एक परिचय
4. वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली आयोग का इतिहास

274 HRD/06-17

हिंदी ग्रंथ अकादमियाँ एवं अन्य भारतीय भाषाओं के बोर्ड

(क) हिंदी ग्रंथ अकादमियाँ

1. निदेशक,
   उत्तर प्रदेश हिंदी संस्थान
   हिंदी भवन, महात्मा गांधी मार्ग,
   लखनऊ-226801

2. निदेशक,
   बिहार हिंदी ग्रंथ अकादमी
   प्रेमचंद मार्ग, राजेंद्रनगर
   पटना-800001

3. संचालक,
   मध्य प्रदेश हिंदी ग्रंथ अकादमी,
   रविंद्रनाथ ठाकुर मार्ग, बान गंगा,
   भोपाल-462203

4. निदेशक,
   राजस्थान हिंदी ग्रंथ अकादमी,
   प्लॉट नंबर-1,
   झालाना संस्थानिक क्षेत्र,
   जयपुर-302304

5. निदेशक,
   हरियाणा साहित्य अकादमी,
   कोठी नं. 897, सेक्टर-2,
   पंचकूला-134112 (हरियाणा)

6. निदेशक,
   हिंदी माध्यम कार्यान्वयन निदेशालय,
   दिल्ली विश्वविद्यालय,
   बैरक नं. 2, 4 कैवलरी लाइन,
   दिल्ली-110007

7. प्रभारी,
   प्रकाशन निदेशालय,
   गो.ब. पंत कृषि एवं प्रौद्योगिकी विश्वविद्यालय
   पंतनगर-263145
   (उधम सिंह नगर) उत्तरांचल

8. निदेशक,
   प्रकाशन निदेशालय,
   हरियाणा कृषि विश्वविद्यालय
   हिसार-125004

9. डीन, विज्ञान संकाय,
   काशी हिंदू विश्वविद्यालय
   वाराणसी-221005

(ख) अन्य भारतीय भाषाओं के पाठ्य-पुस्तक बोर्ड

10. निदेशक,
    तेलुगु अकादमी, 8-5-395
    हिमायत नगर,
    हैदराबाद-500029

11. अध्यक्ष,
    विश्वविद्यालय ग्रंथ निर्माण बोर्ड,
    गुजरात विश्वविद्यालय,
    एलिस ब्रिज कैपिटल प्रोजेक्ट भवन,
    अहमदाबाद-380006

12. निदेशक,
    स्टेट इंस्टीट्यूट ऑफ लैंग्वेजिज,
    नालंदा,
    तिरुवनंतपुरम्, केरल-695003

13. निदेशक,
    महाराष्ट्र विश्वविद्यालय बुक प्रोडक्शन बोर्ड,
    विधि महाविद्यालय, अमरावती मार्ग,
    नागपुर-440010

14. निदेशक,
    पंजाब स्टेट विश्वविद्यालय,
    टेक्स्ट बुक बोर्ड,
    एस.सी.ओ. नं.-289-91,
    सेक्टर-32-डी,
    चंडीगढ़-160047

15. मुख्य कार्यपालक अधिकारी,
    वेस्ट बंगाल स्टेट बुक बोर्ड,
    आर्य मेंशन आठवां तल
    6-ए, राजा सुबोध मलिक स्क्वायर
    कोलकाता-700013

16. सचिव,
    तमिलनाडु टेक्स्ट बुक सोसाइटी,
    महाविद्यालय रोड,
    चेन्नई

17. **असम**
    1. सचिव,
       विश्वविद्यालय प्रकाशन विभाग,
       गुवाहाटी विश्वविद्यालय,
       गोपीनाथ बारदोली नगर,
       गुवाहाटी-781014

    2. सचिव,
       को-ऑर्डिनेशन कमेटी फॉर प्रोडक्शन ऑफ
       टेक्स्ट बुक्स,
       डिब्रूगढ़ विश्वविद्यालय,
       डिब्रूगढ़

18. **कर्नाटक**
    1. निदेशक,
       परसारंगा ज्ञान भारती,
       बेंगलूर विश्वविद्यालय,
       बेंगलूर-560056

    2. प्रोफेंसर ऑफ कन्नड़ यूनिवर्सिटी ऑफ
       एग्रीकल्चर साइंस, डिपार्टमेंट
       ऑफ कन्नड़ स्टडीज,
       हैब्बल, बेंगलूर-560024

    3. निदेशक,
       प्रकाशन विभाग,
       मैसूर विश्वविद्यालय, मैसूर,
       मानस गंगोत्री, मैसूर-570006

    4. निदेशक,
       इंस्टीट्यूट ऑफ कन्नड़ स्टडीज,
       कर्नाटक विश्वविद्यालय,
       टेक्स्ट बुक निदेशालय,
       धारवाड़-3

19. **उड़ीसा**
    निदेशक,
    उड़ीसा राज्य पाठय-पुस्तक प्रणयन
    एवं प्रकाशन ब्यूरो,
    फ्लैट नं. ए-11, सुखविहार,
    भुवनेश्वर

आयोग के प्रकाशनों की बिक्री के लिए प्रकाशन विभाग, भारत सरकार के बिक्री केंद्रों की सूची

क्र. सं.	पता	फोन न.
1.	प्रकाशन नियंत्रक, प्रकाशन विभाग, (शहरी कार्य व रोजगार मंत्रालय), सिविल लाइन्स, दिल्ली–110054	23967640/31 23967823
2.	किताब महल, प्रकाशन विभाग, भारत सरकार, बाबा खड्ग सिंह मार्ग, स्टेट एंपोरिया बिल्डिंग, यूनिट नं. 21, नई दिल्ली–110001	3363708
3.	पुस्तक डिपो, प्रकाशन विभाग, भारत सरकार के.एस. राय मार्ग, कोलकाता–700001	033–22483813
4.	बिक्री काउंटर, प्रकाशन विभाग, भारत सरकार, सी.जी.ओ. काम्पलैक्स, न्यू मेरीन लाइन्स, मुंबई–400020	
5.	बिक्री काउंटर, प्रकाशन विभाग, भारत सरकार, उद्योग भवन, गेट न. 3, नई दिल्ली–110001	2385421/291
6.	बिक्री काउंटर, प्रकाशन विभाग, (लॉयर्स चैंबर) भारत सरकार, दिल्ली उच्च न्यायालय, नई दिल्ली–110003	23383891
7.	बिक्री काउंटर, प्रकाशन विभाग, भारत सरकार, संघ लोक सेवा आयोग, धौलपुर हाउस, नई दिल्ली–110001	

MGIPRRND –274 HRD/06—1,000 Copies.

नियंत्रक, प्रकाशन विभाग, सिविल लाइन्स, दिल्ली-110054 द्वारा प्रकाशित तथा
प्रबन्धक, भारत सरकार मुद्रणालय, रिंग रोड़, मायापुरी, नई दिल्ली-110064 द्वारा मुद्रित।
2006